Bachelor of Arts (DDE)

Semester – II

Paper Code – BA2005-II

ELEMENTS OF PUBLIC ADMINISTRATION-II

लोक प्रशासन के तत्व–II

DIRECTORATE OF DISTANCE EDUCATION

MAHARSHI DAYANAND UNIVERSITY, ROHTAK

(A State University established under Haryana Act No. XXV of 1975)
NAAC 'A+' Grade Accredited University

Copyright © 2002, Maharshi Dayanand University, ROHTAK

All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Price : Rs. 325/-

Publisher: Maharshi Dayanand University Press

Publication Year : 2021

B. A. PUBLIC ADMINISTRATION (D. D. E.) (SEMESTER-II)
ELEMENTS OF PUBLIC ADMINISTRATION-II
PAPER CODE: BA2005-II

Marks: 80 **Time: 3 Hrs**

Note: *Examiner will be required to set NINE questions in all. Question No.1 will be compulsory which consists of 12 short-answer type questions each of 2 marks covering the entire syllabus out of which candidate will be required to attempt ten questions. In addition to Q. No.1, candidate will be required to attempt four more questions from the remaining eight questions each carrying 20 marks.*

Personnel Administration: Recruitment; Training; Promotion; Public Service Commission; Morale; Joint Consultative Machinery (Whitley Councils).

Preparation and passing of Budget, Audit and its Preparation and Significance, Parliamentary Control over Public Finance. Accountability of Public Administration, Legislative and Judicial. E-Governance in Public Administration.

Suggested Books:

- B.L. Fadia & K. Fadia, *Public Administration (Administrative Theories)*, Sahitya Bhawan Publication, Agra, 2015.
- Bidyut Chakrabarty and Prakash Chand, *Public Administration in a Globalizing World: Theories and Practices*, Sage, New Delhi, 2012.
- Smita Srivatava, *Theory and Practice of Public Administration*, Pearson, Noida (U.P), 2011.
- D.Ravindra Prasad and Y. Pardhasaradhi (eds.,), *Public Administration: Concepts, Theories and Principles* (Eng), Telugu Akademi, Hyd, 2011.
- Hoshiar Singh and Pradeep Sachdeva, *Public Administration Theory & Practice*, Pearson Education India, 2010.
- Siuli Sarkar, *Public Administration in India*, PHI, New Delhi, 2009.
- Shafritz Jay M. (ed.), *Defining Public Administration*, Jaipur; Rawat Publications, 2007.
- Dubey, R.K., *Aadhunik Lok Prashasan: Modern Public Administration*, Laxmi Narayan Agarwal Publishers, Agra, 2007.
- Sharma M.P. & Sadana B.L., *Public Administration in Theory and Practice*, Allahabad: Kitab Mehal, 2003.
- Avasthi, A. & Maheshwari, S.R., *Public Administration*, Agra: Laxmi Narain Aggarwal, 2001.
- K.K. Puri and G.S. Brara, *Public Administration: Theory and Practice*, Bharat Prakashan, Jalandhar, 2000.
- Sharma, P.D. & Sharma, H.C., *Theory and Practices of Public Administration*, New Delhi: College Book Depot, 1998.
- Naidu, S.P., *Public Administration: Concepts and Theories*, New Age International Publishers, New Delhi, 1996.
- Bhambri, C.P., *Public Administration*, Delhi: Vikas Publishers, 1991
- Bhattacharya, M. *Public Administration: Structure, Process and Behaviour*, Calcutta: The World Press, 1991.
- Negro, F.A. & Nigro, G.N. *Modern Public Administration*, New York: Harper & Row Publishers, 1980.
- Dimock, M.E. Dimock, G.O. *Public Administration*, Oxford: IBH Publishing Company, 1975.
- While, L.D., *Introduction to the Study of Public Administration*, New York: Maxmillan Company, 1958.

विषय–सूची

अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
1	कार्मिक प्रशासन की अवधारणा, प्रकृति एवं क्षेत्र	1
2	संघ लोक सेवा आयोग : संगठन, शक्तियाँ एवं कार्य	38
3	मनोबल	46
4	हिटले परिषदें	53
5	बजट निर्माण एवं पारित करना	60
6	लेखा–परीक्षा व्यवस्था	72
7	लोक वित्त पर संसदीय नियंत्रण	80
8	लोक प्रशासन की जवाबदेही	86
9	प्रशासन पर विधायी एवं न्यायिक नियन्त्रण	90
10	लोक प्रशासन में ई–गवर्नेंस	100

☆☆☆

अध्याय - 1

कार्मिक प्रशासन की अवधारणा, प्रकृति एवं क्षेत्र

Personnel Administration: Concept, Nature and Scope

भूमिका

जिस प्रकार किसी भी देश में जन–मानस, उस देश की एक धरोहर है उसी तरह सरकार द्वारा गठित विभिन्न संगठन उस देश की अमूल्य निधि होते है। किसी भी संगठन का अपने उद्देश्यों को सफलतापूर्वक प्राप्त करना मुख्यत. उस संगठन में कार्यरत कार्मिकों की क्षमता तथा प्रभावी नेतत्व पर आधारित होता है। यद्यपि यह सत्य है कि संगठनों में कार्यरत कार्मिक ही संगठन के विकास में सहायक होते हैं लेकिन संगठनों में कार्यरत मानव संसाधन की क्रमबद्ध योजना, उनका वाँछित प्रशिक्षण और शिक्षा इत्यादि उन संगठनों को ज्यादा प्रभावी तौर पर विकसित एवं सफल बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। संगठन अपने लक्ष्यों तथा उद्देश्यों को, बिना मानव संसाधन का विकास किए, प्राप्त करने में सक्षम नहीं हो सकता है।

किसी भी संगठन का मानव संसाधन या मानव निधि उस संगठन में कार्यरत क्रामिकों के ज्ञान, प्रवीणता तथा कौशलता को मिलाकर आंका जाता है। अतः भारत जैसे विकासशील देश के लिए मानव संसाधन का विकास करना एक चुनौती बन गया है। मनुष्य के विकास के लिए किया गया खर्च चाहे वह सरकार द्वारा किया गया है अथवा निजी संगठन द्वारा किया गया है. सही अर्थों में मानव विकास करने में सहायक होता है। ऐसे खर्च का कभी अवमूल्यन नहीं होता बल्कि इस विनियोग की उपयोगिता की निरन्तर बढ़ौतरी होती रहती है। मानव की निधि किसी भी संगठन की समस्त निधियों में एक महत्त्वपूर्ण निधि कही जाती है। तथापि इसका यहां यह अर्थ कदापि नहीं है कि दूसरे वित्तीय, तकनीकी, मशीनों इत्यादि की संगठन में महत्ता नहीं है। उन सभी की भी अपनी महत्ता है परन्तु मानव निधि किसी भी संगठन में अति आवश्यक समझी जाती है। क्योंकि मानव निधि या मानव संसाधन ही दूसरी निधियों के उत्पादन और मशीनों इत्यादि का सही उपयोग करने में सक्षम बनाता है। यहां यह भी सत्य है कि कोई भी संगठन अपनी सभी निधियों का सही प्रयोग किये बिना प्रभावी प्रबन्ध का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता परन्तु तुलनात्मक दृष्टि में मानव निधि इन सब मे सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कही जाती है क्योंकि यही निधि दूसरी निधियों के प्रबन्ध में सहायक होती है और जो प्रशासन किसी संगठन में मानव संसाधन के प्रबन्ध तथा विकास सम्बन्धित कार्यों की देख रेख करता है उसे कार्मिक प्रशासन कहा जाता है। सरकारी संगठनों में इसे लोक कार्मिक प्रशासन की संज्ञा दी गई है।

कार्मिक प्रशासन की अवधारणा

कार्मिक प्रशासन प्रशासकीय व्यवस्था का एक अभिन्न एवं जटिल क्षेत्र है। किसी भी संगठन में कार्यरत कार्मिक वर्ग उस संगठन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण धरोहर तथा साधन होता है और संगठन की सफलता कार्मिक प्रशासन के कुशल प्रबन्ध की सफलता पर निर्भर करती है। इसलिए कार्मिक प्रशासन अभिप्रेरित तथा अच्छी तरह काम करने वाले कुशल कर्मचारियों का चयन करने तथा उनसे सम्बन्धित अन्य समस्याओं के लिए उत्तरदायी होता है। यह तथ्य सत्य है कि कार्मिक वर्ग अन्य साधनों के सम्मिश्रण से ही संगठन के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों को प्राप्त करने में सक्षम होता है। परन्तु ये दूसरे साधन जो संगठन के कार्य में उपयोग में लाये जाते है, व्यक्तियों द्वारा ही नियन्त्रित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त सोचने विचारने की क्षमता केवल मनुष्य के पास होती है अतः संगठन में

कार्मिकों की महत्ता अत्यधिक बढ़ जाती है। यद्यपि यह बात भी सच है कि आजकल संगठन की क्षमता उत्पादकता के विकास हेतु प्रबन्ध के क्षेत्र में स्वाचालित एवं इलैक्ट्रोनिक्स उपकरणों का आश्चर्यजनक रूप से विकास हुआ है तथापि जहां भी व्यक्तिगत निर्णय एवं निर्देशन की आवश्यकता होती है वहाँ कार्मिकों की महत्ता अति आवश्यक हो जाती है।

कार्मिक प्रशासन को जटिल इसलिये माना जाता है क्योंकि कार्मिक वर्ग अपने से सम्बन्धित विषयों में स्वयं ही निर्णय लेने का आग्रह करते हैं तथा प्रायः प्रबन्ध की अवहेलना करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार की समस्याएं प्रजातन्त्रीय, तथा विकासशील देशों की प्रशासनिक व्यवस्थाओं में कुछ ज्यादा ही उग्र रुप में दिखाई देने लगी है। आज के युग में प्रजातन्त्रीय देशों के लोक कार्मिक अपने नियोजनकर्ताओं के लिए अनेक समस्याएं जैसे कि वेतन, भत्ते, अनुशासनात्मक प्रक्रियाओं इत्यादि के स्वरूप व आकार के बारे में तथा उनको लागू करने की प्रक्रियाओं के बारे में समस्याएं उत्पन्न करते रहते हैं। इस प्रकार की अवस्थाओं में यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि प्रशासकों को कार्मिकों के विचारों का औचित्य समझने का प्रयास करना चाहिए तथा यथासम्भव उनके विचारों को कार्मिक योजनाएं बनाते समय ध्यान में रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त आज के युग में राष्ट्र कल्याण उसके प्रशासन की कार्य कुशलता पर निर्भर करता है क्योंकि सरकार अपने सभी राष्ट्र कल्याण कार्यक्रमों को कार्यरूप में लाने के लिए कार्मिक वर्ग पर निर्भर करती है और इसलिए भी कार्मिक प्रशासन अध्ययन एवं मनन करने का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बन गया है।

आज का युग बड़े संगठनों का युग कहा जाता है। औद्योगिक क्रान्ति से पहले जब मानव जीवन सरल था, छोटे–छोटे संगठन, जिनके लक्ष्य व उद्देश्य सीमित हुआ करते थे. शासन प्रणाली को प्रभावी तौर पर चलाने में सक्षम थे। इसके अतिरिक्त उस समय सरकारी विभागों की संख्या बिल्कुल सीनित होती थी और विकास की दृष्टि से उनका आकार ज्यादा बड़ा नहीं होता था। इन सभी कारणों के फलस्वरूप कार्मिक प्रशासन की समस्याएं आज के युग की अपेक्षा बिल्कुल सीमित तथा सरल होती थी। संगठन में कार्य करने वालों की संख्या कम होने के कारण संगठन का मुख्य प्रशासक/अध्यक्ष पर्यवेक्षण वर्ग की या तो आवश्यकता ही नहीं थी या फिर उनका अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था। साधारणतः यह माना जाता था कि प्रशासक/मालिक का काम आदेश देना है तथा कार्मिकों/नौकरों का कार्य उन आदेशों का पालन करना है। मालिकों तथा नौकरों या कर्मचारियों के दायित्व पूर्णतः निर्धारित थे। दोनों की तरफ से एक दूसरे के प्रति सद्भावना होती थी। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के बाद सभी परिस्थितियों में बदलाव आया और बदलाव के कारण ही छोटे संगठनों के स्थान पर बड़े संगठनों का जन्म हुआ। पुराने संगठनों की नई आवश्यकताओं के आधार पर विस्तार होना स्वाभाविक था।

विभिन्न संगठनों में कार्यरत कर्मचारियों की संख्या उनके लक्ष्यों व उददेश्यों के साथ दिन प्रतिदिन बढती गई जिसके कारण मुख्य प्रशासक/मालिक तथा कर्मचारियों के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध होना अस्वाभाविक हो गया। अतः मध्यवर्गीय प्रयवक्षकों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और इस प्रकार आज के युग में जहाँ हजारों की संख्या में कर्मचारी संगठनों में कार्यरत हों वहां कार्मिक समस्याओं का जटिल होना स्वाभाविक है।

शिक्षा के प्रसार से सामाजिक बदलाव आया है। व्यक्ति हर बात को परीक्षण व तर्क की कसौटी पर परखना चाहता है। बड़ों की बात को बिना किसी तर्क के मानने की प्रथा लगभग समाप्त हो गई है। इसके अलावा सामाजिक और आर्थिक बदलाव समाज के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तथा तर्क की कसौटी पर खरा उतारने की आवश्यकता के कारण घर में माता–पिता तथा शिक्षण संस्थाओं में शिक्षक का प्रभाव कम हो गया है। इस सभी कारणों का प्रभाव कार्यालयों में कार्यरत कार्मिकों पर होना भी स्वाभाविक है। अब मालिक अथवा उनके प्रतिनिधि के आदेश माने ही जायें ऐसी मान्यता नहीं रही और ऐसे प्रश्न उठाये जाने लगे कि क्या मालिक को ऐसा आदेश देना उचित था? क्या कानुन तथा संविधान की दृष्टि से यह आदेश ठीक था? इस तरह के प्रश्नों ने परम्परागत पर्यवेक्षकों तथा विभागाध्याक्षों के सम्मान को चुनौती दी है और मालिकों/विभागाध्यक्षों तथा कार्मिकों के बीच बनी

सद्भावना प्रायः समाप्त सी हो गई है। दोनों ही तरफ से कानून की बारीकियों पर जोर दिया जाने लगा। परन्तु इन सभी कारकों के बावजूद यह सर्वमान्य है कि प्रशासन की क्षमता कार्मिकों की क्षमता पर निर्भर करती है। कोई भी प्रशासन के स्तर से अधिक ऊंचा या नीचा स्तर नहीं रख सकता जिस का अर्थ यह है कि किसी भी लोक प्रशासन या किसी भी संस्था की क्षमता उसमें कार्यरत कार्मिकों की क्षमता के अनुरूप ही होगी। अतः कार्मिक प्रशासन यह चेष्टा करता है कि कार्मिकों की कार्यक्षमता का स्तर ऊंचा रहे परन्तु यह तभी सम्भव है कि जब कार्मिक पूर्ण रूप से अभिप्रेरित हो तथा बिना किसी विरोध अथवा टकराव के काम होता रहे। वैसे तो इस प्रकार की दशायें उपलब्ध कराना सारे प्रशासन का ही दायित्व है लेकिन कार्मिक प्रशासन का इस दिशा में विशेष रूप से उत्तरदायित्व होता है।

लोक कार्मिक प्रशासन का अर्थ

लोक कार्मिक प्रशासन लोक प्रशासन का वह भाग है जो सरकारी संगठन में कार्यरत कार्मिकों के पारस्परिक अथवा आपसी सम्बन्धों तथा कार्मिकों के संगठन से सम्बन्धों की विवेचना करता है दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी संगठन (लोक प्रशासन) का कार्मिक प्रशासन उस संगठन से सम्बन्धित उन सभी कार्यकलापों का समूह है जो कि संगटन में कार्यरत मानव संसाधन से सम्बन्धित होते है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि कार्मिक प्रशासन वह प्रशासन है जो कि संगठन में कार्मिकों की भर्ती से ले कर उनके अवकाश प्राप्ति तक के सभी कार्यों के लिए जिम्मेदार होता है। इसका अर्थ है कि वे कार्य जो कार्मिक नियोजन, कार्मिकों के बारे किया गया पूर्वविचार, कार्मिक कार्यों के आंकलन, कार्मिकों के चयन, नियुक्ति प्रशिक्षण और विकास तथा कार्मिकों की कार्यक्षमता एवं उत्पादकता को बनाए रखना तथा उसमें लगातार सुधार लाना इत्यादि से सम्बन्धित क्रियाओं का समूह कार्मिक प्रशासन के अन्तर्गत आता है। अतः कार्मिक प्रशासन वह प्रशासन है जो संगठन के प्रशासन को पूर्ण क्षमताशाली व प्रभावी बनाने में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। यद्यपि कार्मिक प्रशासन की कोई एक प्रामाणिक परिभाषा नहीं है तथापि लेखकों में इसके अर्थ सीमा एवं उद्देश्य से सम्बन्धित काफी सर्वमान्यता है। फलिपो के अनुसार कार्मिक कार्य संगठन में कार्मिकों का उपार्जन विकास शुल्क या प्रतिफल प्रदान करना विभिन्न विभागों को आपस में जोड़ने का कार्य करना तथा उनको सम्भालना है ताकि वे संगठन के मुख्य लक्ष्यों एंव उददेश्यों की प्राप्ति में अपना योगदान कर सके। डेल याडर ने 'कार्मिक प्रबन्ध पद की प्रबन्ध का उपयोग किया है तथा इसके अन्तर्गत मजदूरों के सम्बन्धों और कार्मिक समन्वय किया है। उनके अनसार मानवशक्ति प्रबन्ध वह प्रबन्ध है जो सही तरीके से रोजगार में लगे मानव संसाधन के नियोजन निदेशन क्रियान्वित करने, विकास और उपयोग की प्रक्रिया को अच्छी तरह से वर्णित करता है। इसमें नियोक्ता/भालिक कार्मिक समूह, कार्मिक संघ तथा लोक निकाय सभी के सभी सामूहिक रूप से इन प्रक्रियाओं में अपनी भूमिका अदा करते हैं। माइकल जुसिस ने 'कार्मिक प्रबन्ध की परिभाषा इस प्रकार की है कि यह प्रबन्ध का वह क्षेत्र है जो कि कार्मिक शक्ति के उपार्जन, विकास, संभालने की प्रक्रिया तथा उसको उपयोग करने के लिए विभिन्न कार्यक्रमों का नियोजन संगठन और नियन्त्रण करता है ताकि

(1) इन उद्देश्यों को, जिनके लिए कम्पनी स्थापित की गई है प्रभावी तथा मितव्ययता के साथ, प्राप्त किया जा सके।
(2) कार्मिकों के वे उद्देश्य जिनके लिए कार्मिक किसी संगठन में कार्य करते हैं, सभी स्तरों पर जितने ज्यादा सम्भव हो पूरे हो सकें।
(3) उन समुदाय के उद्देश्यों को सही तरीके से समझा जा सके और पूर्ण किया जा सके।

इसके अतिरिक्त ब्रिटेन की क्रार्मिक प्रबन्ध संस्था ने कार्मिक प्रबन्ध को इस प्रकार परिभाषित किया है कि यह प्रवन्ध का वह कार्य क्षेत्र है जो संगठन के अन्दर प्राथमिक तौर पर मनुष्यों के सम्बन्धों से सम्बन्धित है। इसका मुख्य उद्देश्य उन सभी सम्बन्धों की रक्षा करना है जिन पर संगठन में कार्यरत किसी एक व्यक्ति की कार्य कुशलता निर्भर करती है। इस परिभाषा के गुणों को देखते हुए भारतीय प्रबन्ध संस्था ने भी इस परिभाषा को अपना लिया था परन्तु

1966 में इस परिभाषा को परिवर्तित कर दिया गया। नई विस्तृत परिभाषा के अनुसार 'कार्मिक प्रबन्ध' प्रबन्ध का वह कार्य क्षेत्र है जो किसी व्यावसायिक संगठन में कार्यरत कार्मिकों से सम्बन्धित है तथा उस संगठन के साथ कार्मिकों से सम्बन्धों की व्याख्या करता है। इसका (कार्मिक प्रबन्ध) उद्देश्य संगठन में कार्यरत पुरूष और स्त्रियों को इकट्ठा करना है जो कि उस संगठन को संगठित करने और उसका विकास करने में सहायक होते हैं तथा किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह कि भलाई को ध्यान में रखते हुए उनको ऐसा सुयोग्य बनाना है ताकि वे संगठन की सफलता के लिए अपना अति उत्तम योगदान प्रदान कर सके।

विशेष रूप से कार्मिक प्रशासन या कार्मिक प्रबन्ध उन नीतियों से सम्बन्धित होता है जो–

(1) मानव संसाधन के नियोजन, भर्ती, चयन स्थापित करने की प्रक्रिया तथा पदच्युत करने से सम्बन्धित है।
(2) शिक्षा एवं प्रशिक्षण तथा जीवनवृत्ति व्यवसाय के विकास से सम्बन्धित है।
(3) नौकरी की शर्तो, शुल्क प्रदान के तरीकों तथा माप–दण्डों से सम्बन्धित है।
(4) कार्य करने की अवस्थाओं और सेवीय नियमित एवं अनियमित पत्र व्यवहार/कथन या व्यवहार से सम्बन्धित कार्यों तथा संगठन के हर स्तर पर नियोक्ताओं और कर्मिकों के प्रतिनिधियों के बीच आपस में सलाह मशवरा करने की प्रक्रिया से सम्बन्धित है, और
(5) कार्मिकों के वेतन तथा कार्य करने की परिस्थितियाँ संगठन के झगड़ों को सुलझाने एवं उनसे बचने की प्रक्रिया के तरीकों को अपनाने के लिए बातचीत करना व उन तरीकों का प्रयोग करने इत्यादि से सम्बन्धित है।

इसके अतिरिक्त कार्मिक प्रबन्ध मनुष्य और संगठन में आन्तरिक सामाजिक बदलाव के परिणामों, कार्य करने के तरीकों तथा जन समुदाय में आए आर्थिक बदलाव से भी सम्बन्धित होता है। उपरोक्त विवरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कार्मिक प्रशासन किसी संगठन में कार्मिकों अथवा व्यक्तियों की भर्ती, कार्य पर लगाने की प्रक्रिया उनका प्रशिक्षण, अनुशासनात्मक कार्यवाही, वित्तीय तथा आवेत्तीय शर्तो तथा अवकाश प्राप्ति पर दिये जाने वाले लाभाशों के सन्दर्भ में वर्णित किया जाता है। यह उन सभी क्रियाओं और कार्यों का समूह है जो किसी संगठन में कार्मिकों से सम्बन्धित नीति निर्धारण नियोजन, नीति कार्यन्वयन, सामाजिक बदलाव तथा आधुनिकता लाने में, प्रशासकीय सुधारों और जन सम्पर्क से सम्बन्धित है। इसका मुख्य उद्देश्य मानव संसाधन का संरक्षण, विकास एवं सही उपयोग करना है ताकि मितव्ययता अपनाते हुए तथा कम से कम यान्त्रिकी साधनों को उपयोग में लाकर भी ज्यादा से ज्यादा परिणामों की प्राप्ति की जा सके।

कार्मिक प्रशासन मुख्यतः निम्नलिखित कार्यों को सम्पन्न करने का प्रयास करता है।

1. मानव संसाधन का पूर्ण उपयोग
2. संगठन के सभी सदस्यों के बीच सद्भावना स्थापित करना
3. ज्यादा से ज्यादा कार्मिक विकास करना
4. संगठन की सामाजिक और काननी जिम्मेदारियों को पूरा करना इत्यादि।

माइकल जूसस के अनुसार कार्मिक प्रशासन के प्रयास यह सुनिश्चित करते हैं कि

1. संगठन के उद्देश्यों को मितव्ययता पूर्ण तथा क्षमतापूर्ण रूपों में प्राप्त किया जा सके,
2. संगठन में हर व्यक्ति के उद्देश्य पूर्णरूप से पूरे हों, तथा
3. समुदाय की सामान्य भलाई का संरक्षण तथा विकास हो।

उपरोक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्मिक प्रशासन संगठन में व्यक्तियों के सहकारी प्रयास का नियोजन, निर्देशन, प्रशासन के। सभी भागों में ताल मेल लाने और नियन्त्रण करने में कार्यरत रहता है।

कार्मिक प्रशासन की प्रकृति

कार्मिक प्रशासन मानव समूह से सम्बन्धित है। इस मानव समूह की अपनी आकांक्षाएँ, इच्छाएँ, आवश्यकताएँ तथा औपचारिक एवं अनौपचारिक संगठन है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कोई भी कर्मचारी जीवन निर्वाह के लिए नौकरी करने आया है पर यह भी तो सत्य है कि उसका स्वयं का भी एक व्यक्तित्व है। यदि नौकरी की शर्ते. काम करने की स्थितियाँ इत्यादि उसके व्यक्तित्व पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं तो वह या तो नौकरी छोड़ देगा और या फिर असंतुष्ट कार्यकर्ता के रूप में पद पर बना रहेगा। यदि वृत्तिपूर्णता की स्थिति है तो वह नौकरी छोड़कर कहीं और चला जायेगा लेकिन यदि बेरोजगारी की समस्या है तो वह नौकरी पर तो बना रहेगा पर असन्तुष्ट होने के कारण संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति में सक्रिय नहीं रह सकेगा। इसके अतिरिक्त किसी भी शासन सम्बन्धी संगठन में वहाँ कार्यरत कार्मिक बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। संगठन किसी भी कार्मिक को अनदेखा नहीं कर सकता और इसलिए.यह उस संगठन के प्रबन्ध की जिम्मेदारी बन जाती है कि वह हर कार्मिक के प्रति सजग रहे ताकि वह अपनी पूर्ण क्षमता से संगठन का कार्य करता रहे। परन्त सामाजिक और आर्थि पर भी पड़ा है। सामाजिक आर्थिक ही नहीं बल्कि राजनैतिक बदलाव ने भी संगठन की कार्यशैली को प्रभावित किया है और इस तरह का प्रभाव हमारे कार्मिक प्रशासन में साफ दिखाई पड़ते हैं, जैसे कि

1. राजकीय सेवा संगठनों में विभिन्न सामाजिक और आर्थिक परिवेश से कार्मिकों की भर्ती का होना
2. कार्मिकों का मूल्यांकन करने के मानदण्ड में बदलाव आना,
3. सरकार की अपने कर्मचारियों से आशाएं ज्यादा बढ़ना, और
4. लोगों की सरकार से हर स्तर पर आशाएं अधिक होना।

आर्थिक और राजनैतिक बदलाव का प्रभाव हमारी प्रबन्ध प्रणाली पर भी पड़ा है। सरकार के 'विकास' और 'भलाई के प्रोग्रामों को क्रियान्वित करने में हर कार्मिक से यह उम्मीद की जाती है कि वह अपने कार्य में दक्ष और सक्षम हों। आम जनता प्रायः यह उम्मीद करती है कि सरकारी प्रशासन तन्त्र सक्षम प्रभावशाली और संवेदनशील हो। इसके अलावा लोग प्रशासन प्रक्रिया में बढ़ चढ़ कर भाग लेने लगे हैं तथा प्रशासन पर इस तरह निरन्तर बढ़ते बोझ के कारण कार्मिक प्रशासन के कार्य में बदलाव आना जरूरी हो गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कार्मिक हमेशा औपचारिक संगठनों में काम नहीं कर सकता और यह भी सत्य है कि कोई भी संगठन केवल औपचारिक रूप में नहीं चलाया जा सकता क्योंकि किसी भी संगठन को बनाने में मनुष्य एक महत्वपूर्ण एवं अहम् भूमिका निभाता है। कार्मिक ही किसी संगठन में उसके उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों को क्रियान्वित करते हैं और जिम्मेदारियां संभालते है। कई बार औपचारिक संगठन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनौपचारिक संगठनों की सहायता लेते हैं। अनौपचारिक संगठन एक प्राकृतिक प्रक्रिया है और सामाजिक तथा सांस्कृतिक रिश्तों पर आधारित होती है। इसके अलावा राजनैतिक, आर्थिक और मानसिक कारक भी अनौपचारिक संगठनों की स्थापना में सहायता करते हैं। अन्त में, कार्मिक प्रशासन के कार्य दिन–प्रतिदिन जटिल होते जा रहे हैं और कार्मिक प्रशासन की कठिनाईयाँ एक संगठन से दूसरे संगठन में भिन्न होती है। जैसे कि बड़े संगठनों को बहुत सारे कार्य करने पड़ते हैं और वे अधिक कर्मचारियों की भर्ती करते हैं और उनके उद्देश्य भी विस्तृत होते हैं। इसलिए उनकी कार्मिक प्रशासन की कठिनाईयाँ ज्यादा जटिल हैं। इस तरह से कहा जा सकता है कि कार्मिक प्रशासन की समस्याएँ निम्नलिखित रूपों में प्रशासन के अन्य क्षेत्रों से भिन्न हैं।

(1) कार्मिक प्रशासन मनुष्य अथवा मनुष्य समुदायों से सम्बन्धित होता है। किस नियम अथवा किस आदेश की क्या प्रतिक्रिया होगी, यह ठीक ठीक जान सकना सम्भव नहीं है। कई बार ऊपरी रूप से निर्दोष दिखाई देने वाले नियम विनियम या आदेश के प्रति भी गम्भीर प्रतिक्रिया हो जाती है।

(2) सभी प्रकार के कार्मिकों के लिए एक प्रकार के ही अभिप्रेरक काम नहीं करते। अभिप्रेरक की क्षमता कार्मिक की आवश्यकता पर निर्भर करती है और क्योंकि भिन्न कार्मिकों की आवश्यकता भिन्न होती है अतः उनके

लिए अभिप्रेरक भी भिन्न होने चाहिए और यह पता लगाना कि किस कार्मिक के लिए कौन सा अभिप्रेरक सक्षम होगा. यह कार्मिक प्रशासन की जिम्मेदारी है।

(3) प्रशासन के अन्य क्षेत्रों में समस्याओं पर केवल कार्यक्षमता के आधार पर निर्णय लेना संभव है परन्तु कार्मिक प्रशासन में केवल काम की आवश्यकता अथवा कार्यक्षमता के आधार पर निर्णय लेना कदापि सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए आप किसी कर्मचारी को छुट्टी देने से इन्कार इसलिए नहीं कर सकते क्योंकि संगठन को उसकी जरूरत है इसलिए वह अपने बीमार बच्चों की बीमारी को अनदेखा कर दे। ऐसी दशा में आप उस कर्मचारी को मना नहीं कर सकेंगे क्योंकि बच्चे की देखभाल करना उसका प्रथम कर्तव्य है और संगठन का कार्य करना ऐसी दशा में उतना महत्वपूर्ण नहीं हो सकता।

(4) आज कार्मिकों की समस्याओं को सुलझाने में प्रबन्ध वर्ग का एकाधिकार नहीं रह गया है। कार्मिकों के शक्तिशाली संगठन हैं और कोई भी निर्णय जो कार्मिकों पर प्रभाव डालता हो बिना यूनियनों की सहमति के कदापि लागू नहीं किये जा सकते। वर्तमान समय में औद्योगिक शान्ति बनाए रखने का एक रास्ता यह है कि प्रबन्धक कार्मिकों से सम्बन्धित मामलों में यूनियनों की सहमति प्राप्त करने का प्रयास करें।

(5) कार्मिकों की आकांक्षाएँ भी समय के साथ बदल गई हैं। आज का कार्मिक पहले की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह रहना, खाना, पीना या जीवन निर्वाह करना चाहता है। आज का कर्मचारी ज्यादा सुख सुविधा चाहता है तथा अधिक कठोर पर्यवेक्षण का विरोध करता है। यह आकांक्षाएं भी कार्मिक प्रशासन के लिए गम्भीर चुनौती बनी हुई है क्योंकि सरकार चाहती है कि कम से कम खर्च से ज्यादा क्षमता व उत्पादकता बढ़ाई जाए लेकिन कर्मचारी अपनी आकांक्षाओं के कारण ज्यादा से ज्यादा वेतन और दूसरे भत्तों की मांग करते हैं।

(6) कार्मिकों का शैक्षणिक स्तर पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गया है और इसी कारण आज के कार्मिक पहले की अपेक्षा अपने अधिकारों के बारे में ज्यादा जागरूक हो गये हैं।

(7) जिस प्रजातन्त्रीय समाज में हम रहते हैं उसकी भी कुछ मान्यताएँ है जिसके अनुसार प्रबन्धक वर्ग को चलना है। प्रजातन्त्र प्रत्येक मनुष्य को चाहे समाज में उसका कोई भी दर्जा क्यों न हो, समानता का दर्जा देता है। गरीब और अनपढ़ व्यक्ति को भी मनुष्य होने के नाते सम्मान दिया जाना चाहिए। पहले जिस प्रकार का कठोर व्यवहार प्रबन्धक अपने कार्मिकों के साथ करते थे उसे आज का प्रजातन्त्र समाज गलत मानना है। यदि प्रबन्धक वर्ग इन मान्यताओं के प्रतिकूल आचरण करता है तो वह आलोचना का शिकार होता है।

(8) यह विचारधारा कि प्रबन्धकों का विशेषाधिकार होता है कि वे निर्णय लें तथा कर्मचारी उन निर्णयों या प्रबन्धकों की आज्ञा का पालन करें लगभग समाप्त हो गई है। आज का कार्मिक प्रबन्ध में भागीदारी की मांग करता है और कार्मिकों के प्रतिनिधि प्रवन्ध मण्डलों तथा विभागीय समितियों में लिये जाते हैं। आज प्रबन्धकों को अपना परम्परागत विशेषाधिकार कर्मचारियों की सहमति से प्रयोग में लाना होता है।

(9) आज का कार्मिक वृत्ति पूर्णता के कारण इस बात से कदापि नहीं डरता कि उसे प्रबन्धक नोकरी से निकाल देगा जबकि इस प्रकार का संरक्षण पहले के कार्मिकों को उपलब्ध नहीं था। आज कार्मिकों की सहायता के लिए उनकी यूनियन है। आवश्यकता पड़ने पर इन्हें बेरोजगारी भत्ता मिल सकता है। वृत्ति–पूर्णता के कारण शायद उसकी आवश्यकता भी न पड़े लेकिन देश में वृत्तिपूर्णता की दशा नहीं है।

(10) मनोवैज्ञानिक शोधों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सन्तुष्ट कार्यकर्ता की उत्पादन क्षमता ज्यादा होती है। डर एक नाकारात्मक शक्ति है। इससे सन्तोष की उत्पत्ति नहीं होती। अतः डर के स्थान पर घनात्मक

उत्प्रेरक का उपयोग करना चाहिए उदाहरण के लिए वित्तीय उत्प्रेरक, पदोन्नति आदि अधिक प्रभावी साधन हैं।

कार्मिक प्रशासन का क्षेत्र

कार्मिक प्रशासन संगठन के उन सभी प्रबन्ध के स्वरूपों का समन्वय करता है जो मनुष्य के प्रबन्ध से सम्बन्धित हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कार्मिक प्रशासन का प्रथम उद्देश्य संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए संगठन में कार्यरत/मानव संसाधन का सही उपयोग में लाना है। इसलिए कार्मिक प्रशासन को चाहिए कि वह संगठन के कार्यों (Organisational tasks) को विभिन्न छोटे कार्यो (jobs) में बांटकर संगठन में कार्यरत कार्मिकों के बीच प्रभावी कार्य करने के सम्बन्ध स्थापित कर तथा विभिन्न विभाजित छाट कार्यों के साथ जुड़ी जिम्मेदारी, सत्ता. (Authority) व उन छोटे कार्यों का दसरे कार्यों के साथ सम्बन्ध साफ तरीके से वर्णित करें। कार्मिक प्रशासन को चाहिए। दूसरे कार्यो के प्रति लगन तथा समर्पण का भावना पैदा करें। इसका मुख्य उद्देश्य संगठन में कार्मिकों में भाईचारे की भावना को पैदा करना तथा आपसी टकराव से उनको बचाने का है और इस तरह के परिवेश में ही संगठन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति अच्छे ढंग से कर सकता है। इसके अलावा कार्मिक प्रशासन को चाहिए कि वह अवांछित पक्षपात व भाई भतीजेबाद को संगठन में न पनपने दे।

कार्मिक प्रशासन किसी भी संगठन में मुख्य रूप से निम्नलिखित प्रबन्ध के कार्य करता है

(1) **कार्मिकों की भती तथा चयनः** कार्मिकों को भर्ती के लिए विज्ञापन देना, उचित प्रकार के उम्मीदवारों को प्रार्थना–पत्र देने के लिए प्रोत्साहित करना, प्रार्थना–पत्रों की प्राथमिक जांच पड़ताल, योग्य प्रत्याशियों के लिए परीक्षाओं का संचालन करना तथा सफल उम्मीदवारों की नियुक्ति के लिए सत्यापन आदि का कार्य कार्मिक प्रशासन के कार्य हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्याशियों की योग्यता जांचने के लिए नये तरीकों का पता लगाना तथा उनका उपयोग करना भी कार्मिक प्रशासन की जिम्मेदारियों के भाग हैं। कार्मिक प्रशासन विभिन्न श्रमिक बाजारों का सर्वक्षण, तथा भविष्य में संगठन के लिए कार्मिकों की आवश्यकताओं का अध्ययन भी करता है। यद्यपि इस तरह के कार्य आजकल संगठन अलग से कुछ विशेष एजेंसियों या संस्थाओं को सौपने लग गई है तथापि फिर भी लगभग सभी संगठन कार्मिकों की भर्ती का कार्य स्वयं करते हैं। विशेष संस्थाओं को प्रायः तभी सौंपा जाता है जब भी किसी विशेष क्षेत्र में करनी हो या भर्ती बहुत सारे कार्मिकों की करनी है।

(2) **नियुक्ति** : कुछ संस्थाओं में कार्मिकों की नियुक्ति का काम भी कार्मिक प्रशासन विभाग ही करता है, यानि किस कर्मचारी को किस स्थान पर लगाना है तथा कहां किस कर्मचारी की ज्यादा उपयोगिता होगी, इस बात का निर्णय लेने का अधिकार कार्मिक प्रशासन को ही होता है।

(3) **कार्य विश्लेषण** : किसी पद के अधिकारी का क्या दायित्व है? उसे क्या–क्या काम करने हैं? कौन–कौन से अभिलेख उसे तैयार करवाने हैं? कौन–कौन से प्रतिवेदन इसे प्रस्तुत करने हैं? इस तरह के सभी कार्यो से सम्बन्धित कार्य विश्लेषण कार्मिक विभाग की देख–रेख में ही किया जाता है।

(4) वेतनमान तथा प्रतिफल से सम्बन्धित कार्य : वेतनमान प्रशासन तथा वार्षिक वेतन वृद्धि के आदेश, क्षमता रोध (Efficiency Bar) को पार करने के आदेश आदि इस श्रेणी में आते हैं। कई बार कार्मिक को योग्यता वेतन (Merit Pay) भी देने की व्यवस्था होती है। कार्मिकों को बोनस देना तथा अन्य वित्तीय अभिप्रेरकों की व्यवस्था भी इसी के अन्तर्गत आती है।

(5) कर्मचारियों की योग्यता आंकना (Employee Appraisal) : कर्मचारी की कार्यक्षमता कैसी हैं? वह उत्तरदायित्व ग्रहण के योग्य है या नहीं है। वह कार्य करने में उत्सुकता रखता है या नहीं। उसका व्यवहार अपने सहयोगियों, अधिकारियों, अधीनस्थों तथा जनता के सदस्यों के प्रति कैसा है। उसे दिया गया कार्य

वह निर्धारित कार्य अवधि में पूरा करता है या नहीं? उसका कार्य सन्तोषजनम रहा है या नहीं इत्यादि को सही रूप में आकंकने का उत्तरदायित्व कार्मिक विभाग का ही है।

(6) **रोजगार अभिलेख (Employment Record)** :

1. अधिकारी की कुशलता (Skill) का अभिलेख, 2. शैक्षणिक योग्यता तथा नई उपलब्धियां, 3.कर्मचारियों की अभिवृति (Attitude) का अभिलेख, 4. वेतनमान से सम्बन्धित सूचनायें, 5.ओवर टाइम आय, 6. छुट्टियों का अभिलेख, 7. अभिप्रेरक वेतन

(7) **कार्मिकों के लाभ के लिए चलाए गए कार्यक्रमों का प्रशासन** :

1. अवकाश प्राप्ति लाभ (Retirement Benefits), 2. स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रम, 3. कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रम, 4. अल्प बचत योजनाएं, 5. कैन्टीन सुविधा, 6. कार्मिकों के लिए क्लब आदि की सुविधा, 7. परामर्श यात्री सेवाएँ, 8. कार्मिकों के लिए स्थापित चिकित्सा सेवाएँ,

(8) **विशेष सेवाएँ :**

1. अग्नि शमन सेवाएं, 2. सुरक्षा निरीक्षण, 3. संगठन के द्वारा प्रकाशित विशेष समाचार पत्र इत्यादि, 4. विशेष प्रकार के समाचार पत्रों का प्रसारण, 5. मैनुअल (Manual) आदि का प्रकाशन

(9) शिक्षण तथा प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रम

1. प्ररिशक्षण देने वाली संस्थाओं से सम्पर्क बनाए रखना, 2. प्रशिक्षण अवश्यकताओं को परनिर्धारित करना, 3. कर्मचारियों के लिए अनेक प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों को आयोजित करना।, 4. प्रशिक्षण की उपयोगिता को आंकना

(10) कार्मिक नियोजन एवं मुल्यांकन :

1. कार्मिक नीतियों का मूल्यांकन, 2. कार्मिक नीतियों में मूल्यांकन के बाद पाई गई कमियों को दूर करने का प्रयास, 3. कार्मिकों की मनोदशा का सर्वेक्षण, 4. कार्मिक क्षेत्र में अनुसन्धान, 5. कार्मिक प्रशासन के विभिन्न तरीकों का मूल्यांकन और उनके सुधार।

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि कार्मिक प्रशासन की उपरोक्त गतिविधियां सम्पूर्ण (Exhaustive) नहीं हैं। यह दृष्टांत (Illustrative) मात्र है। विभिन्न देशों में स्थिति अलग–अलग हो सकती है। इसमें केवल इतना ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मुख्य रूप से कार्मिक प्रशासन के क्षेत्र में उपरोक्त वर्णित कार्य कुछ फेर बदल के साथ आते हैं।

भर्ती और प्रशिक्षण

Recruitment and Training

प्रशासकीय कुशलता की दृष्टि से सुदृढ़ कार्मिक व्यवस्था अति आवश्यक है। प्रशासकीय कुशलता के अभाव में कोई सरकार अपने किसी उद्देश्य को सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। सरकार में कार्मिकों की संख्या दिन पर दिन बढ़ रही है। अतः काम के अनुसार योग्य व्यक्ति की भर्ती तथा उसे कार्य हेतु प्रशिक्षित करना कार्मिक व्यवस्था की सबसे कठिन किन्तु आवश्यक क्रिया है।

भर्ती

प्रशासकीय संगठन में रिक्त पदों हेतु योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने की प्रक्रिया को सामान्य शब्दों में भर्ती कहते हैं। प्रसिद्ध विचारक एल. डी. व्हाइट के अनुसार व्यक्तियों को आकर्षित करना ही भर्ती है। कुछ लोग इसके अर्थ को सीमित रूप में किसी विशेष पद के लिए प्रार्थना पत्र मात्र समर्पित करने से लगाते हैं। किंगस्ले

(Kingsely) के अनुसार सार्वजनिक भर्ती की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है कि यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोक सेवाओं हेतु अभ्यार्थियों को स्पर्धात्मक रूप में आकर्षित किया जा सकता है। यह व्यापक प्रक्रिया का आन्तरिक भाग है। नियुक्ति में परीक्षा एवं प्रमाण सम्बन्धी प्रक्रियाएं भी सम्मलित है। जे. सी. चार्ल्सवर्थ ने भर्ती को व्यापक प्रक्रिया के रूप में ''विज्ञापन से लेकर स्थानपूर्ति तक की व्यवस्था को भर्ती में स्वीकार किया है।''

लोक सेवाओं में भर्ती का प्रश्न योग्य प्रत्याशियों की नियुक्ति से जुड़ा हुआ है। वास्तव में प्रत्येक प्रशासन का लक्ष्य और दृष्टिकोण यही रहता है कि योग्य, उपयुक्त, कुशल, सक्षम और निष्ठावान लोकसेवक उपलब्ध हो सके। भर्ती अपने स्वरूप में एक ऐसा कार्यक्रम है जिसके द्वारा नये कार्मिकों को सेवा के क्षेत्र में लिया जाता है। भर्ती स्वयं कोई उपलब्धि नहीं है बल्कि यह महान् उपलब्धियों हेतु आवश्यक आधार प्रस्तुत करती है। प्रत्येक देश में भर्ती का एक सामाजिक पक्ष होता है। समाज के श्रेष्ठ लोग समाज की सेवा करने हेतु चुने जाते हैं। लोक सेवकों को प्रत्येक व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना पड़ता है। मुख्य कार्यपालिका के सभी दायित्वों को कुशल लोकसेवक ही निष्ठा भावना से पूर्ण करते हैं। अतः इस दृष्टि से सबसे अधिक महत्व भर्ती की व्यवस्था को दिया जाना स्वाभाविक है।

भर्ती के दृष्टिकोण

यदि भर्ती का उद्देश्य पक्षपात को रोकना अथवा राजनीतिक दवाब को समाप्त करना है या गलत व्यक्तियों को बाहर रखना है, तो इसे नकारात्मक भर्ती की संज्ञा देगें। प्रारम्भ में जब योग्यता प्रणाली को लूट प्रणाली के स्थान पर लागू किया गया तो इसका उद्देश्य योग्यतम व्यक्तियों का चयन करना नहीं था। इस नकारात्मक पद्धति का परिणाम यह हुआ कि साधारण दर्जे के व्यक्ति भर्ती हुए। लेकिन कुछ समय के बाद लूट प्रणाली का अन्त हो गया। अब इस बात पर बल दिया गया कि सार्वजनिक सेवाओं के लिए योग्यतम व्यक्तियों का चयन होना चाहिए। इस बात ने सकारात्मक भर्ती के विचार को जन्म दिया। इस दृष्टिकोण की यह मान्यता है कि लोक सेवाएं केवल योग्य, प्रतिभाशाली और समर्थ लोगों के लिए बनी है। इन सेवाओं में अयोग्य और अकुशल लोगों हेतु कोई स्थान नहीं है। अतः सकारात्मक भर्ती का अर्थ है कि कार्मिक अभिकरण सर्वोत्तम और योग्यतम कार्मिकों का चयन करे। इस पद्धति में योग्यतम व्यक्तियों को आकर्षित करने हेतु नई–नई प्रणालियों का प्रयोग करना होता है। दूसरे शब्दों में, भर्ती के तरीके इस प्रकार के होते हैं कि केवल योग्य उम्मीदवारों को ही प्रतियोगिता में मुकाबला करने का अवसर प्राप्त हो। जहाँ प्रथम नकारात्मक दृष्टिकोण लोक सेवकों के हृदय में कोई आकर्षण पैदा नहीं करता वहां सकारात्मक दृष्टिकोण प्रत्येक प्रतिभाशाली को लोक सेवाओं की ओर आकृष्ट होने की व्यवस्था सुलभ करता है। इससे ऐसे लोग अपने को सम्मलित और प्रतिष्ठत अनुभव करते हैं। साधारणतः दूसरा प्रभाव यह होता है कि लोक सेवाओं को जीवन–वृत्ति के रूप में अपनाने की आकांक्षा सहज रूप से पूर्ण हो जाती है।

भर्ती के प्रकार

भर्ती करने वाली सत्ता का निर्णय करने के पश्चात् दूसरी समस्या यह है कि भर्ती करने के लिए कौन–कौन सी विधियां अपनाई जा सकती है। लूयिस मायरज (Levis Mavere) के शब्दों में 'मौलिक रुप से चनने की दो विधिया हैं। सेवा के बाहर से चुनाव या भर्ती एवं चुनाव सेवा के भीतर से पदोन्नति द्वारा।'' इस प्रकार भर्ती करने के दो तरीके हैं सीधी भर्ती (Recruitment Proper Direct Recruitment) तथा पदोन्नति द्वारा (Recruitment Through Promotion) भर्ती। दूसरे तरीके के अधीन सभी नियुक्तियां या तो निम्न अधिकारियों को पदोन्नत करने की होती है। या निम्न सरकारी कर्मचारियों में से प्रतियोग्यता परीक्षा द्वारा परंतु यह प्रतियोग्यता परीक्षा केवल सरकारी कर्मचारियों तक ही सीमित होती है। सरकारी कर्मचारियों के अतिरिक्त इसमें कोई व्यक्ति भाग नहीं ले सकता।

इन दोनों तरीकों को अपनाया जाना पदाधिकारी प्रणाली की प्रकृति पर निर्भर करता है। एक लोकतंत्रीय प्रणाली में प्रायः बाहरी एवं प्रत्यक्ष भर्ती प्रणाली (Recruitment from-Without) को अपनाया जाता है जबकि कुलीनतत्रात्मक तथा नौकरशाही प्रणाली में भीतरी भर्ती प्रणाली को श्रेष्ठ समझा जाता है ऐसा इसलिए है क्योंकि लोकतंत्रात्मक प्रणाली में सभी नागरिकों को लोक सेवाओं में प्रवेश करने का अवसर दिया जाना मान्य समझा जाता है जबकि नौकरशाही तथा कुलीनतंत्रात्मक प्रणाली में लोक सेवाओं के व्यावसायिक होने पर बल दिया जाता है। इन दोनों तरीकों में कौन सा श्रेष्ठ है यह कहना कठिन है। दोनों के अपने–अपने गुण तथा दोष हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है

भीतरी भर्ती प्रणाली के लाभ (Advantages of Recruitment from within) – इस पद्धति के मुख्य लाभ इस प्रकार है।

1. इस पद्धति के अंतर्गत अनभवी लोग उच्च पदों पर नियक्त किए जाते हैं। उन्हें काम करने का पूर्ण ज्ञान होता है। उनके प्रशिक्षण पर कोई खर्च नहीं पड़ता बल्कि उनके अनुभव से प्रशासन में कुशलता बढ़ती है।
2. इस पद्धति में कर्मचारियों को पदोन्नति प्राप्त करने के अवसर मिलते हैं। उन्हें यह प्रलोभन बना रहता हैं। कि वे समय आने पर उच्च पद प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए वे अपने कार्यों में अधिक ध्यान से दक्षतापूर्ण काम करते हैं।
3. इस पद्धति में कर्मचारियों को यह विश्वास रहता है कि वे किसी–न–किसी दिन एक उच्च पद अवश्य ग्रहण करेंगे। अतः वे निम्न स्तरों पर काम करते समय थोड़े वेतन से भी संतुष्ट रह सकते हैं।
4. इस पद्धति के अधीन क्योंकि कर्मचारियों का पदोन्नति के अवसर मिल जाते हैं इसलिए उनमें नैतिकता का अधिक विकास होता है और उनमें आत्मबल तथा आत्मविश्वास बढ़ जाता है।
5. क्योंकि इस पद्धति के अधीन अनुभवी व्यक्तियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता है इसलिए प्रशासन में कुशलता बढ़ती है।
6. इस पद्धति के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि परीक्षा द्वारा लोगों की कार्य क्षमता का ठीक–ठीक ज्ञान नहीं होता। इस प्रणाली के अधीन यह दोष भी समाप्त हो जाता है, क्योंकि कर्मचारी पहले से ही काम कर रहे होते हैं और उनकी कार्यक्षमता का ज्ञान सभी को होता है।
7. इससे भर्ती की समस्या भी सरल हो जाती है। केवल अधीनस्थ पदों के लिए नए आवेदकों की परीक्षा लेनी पड़ती है। इससे लोक सेवा आयोग का कार्यभार भी कम हो जाता है। उसे सभी पदों के लिए प्रतियोग्यता परीक्षा का प्रबन्ध नहीं करना पड़ता। इससे आर्थिक तौर पर भी लाभ होता है। परीक्षा प्रतियोगिताओं पर कोई व्यय नहीं करना पड़ता।

भीतरी प्रणाली के दोष (Disadvantages of Recruitment from Within) – इस पद्धति के जहां पर कई लाभ हैं वहां पर इसके कई दोष भी हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार है

1. इस पद्धति का सर्वप्रथम दोष यह है कि इसके अन्तर्गत चुनाव का क्षेत्र सीमित हो जाता है क्योंकि भर्ति केवल उन्हीं कर्मचारियों में करनी होती है जो पहले से निम्न पदो पर आसीन होते हैं। चुनाव क्षेत्र के सीमित होने के कारण कई बार उच्च पदों के लिए योग्य व्यक्ति नहीं मिलते।
2. इसका यह दोष भी है कि इसके अन्तर्गत पदोन्नति के सम्बन्ध में पक्षपात पाया जाता है। पदोन्नति करते समय कर्मचारियों की रिपोर्ट पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कई बार उच्च कर्मचारी अपने निग्न कर्मचारियों

से व्यक्तिगत सम्बधनों के कारण पक्षपात करते है। ऐसी दशा में कई बार योग्य व्यक्तियों को उच्च अधिकारियों की कृपा का पात्र न होने के कारण पदोन्नति के अवसर से वांछित होना पड़ता है।

3. इस पद्धति के अधीन नवयुवक व्यक्ति सरकारी सेवा में प्रवेश नहीं कर सकते। जिससे सरकारी सेवाओं में रूढ़िवादिता आ जाती है। क्योंकि छोटे पद पर दीर्घकाल के लिए काम करने वाले कर्मचारियों में संकीर्णता आ जाती है तथा वे नवीन वातावरण की आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको ढाल नहीं सकते।

4. इस पद्धति का यह भी दोष है कि इसके अन्दर कर्मचारियों के रूढिवादी होने के कारण उनको अपने क्षेत्र की नवीन प्रगति से परिचय रखने की प्रेरणा नहीं मिलती। वे नए तरीके अपनाने का यत्न नहीं करते। वे सदैव लकीर के फकीर रहते हैं।

5. क्योंकि कर्मचारियों को उच्च पद पदोन्नति के आधार पर प्राप्त होते हैं और पदोन्नति प्राय ज्येष्ठता के आधार पर होती है, इसलिए उनमें परिश्रम की प्रेरणा समाप्त हो जाती है।

6. इस पद्धति में सरकारी सेवा के बाहर से योग्य व्यक्ति सरकारी सेवा में प्रवेश नहीं कर पाते।

बाहर से भर्ती के लाभ (Advantages of Recruitment from Without)

1. यह पद्धति लोकतन्त्रात्मक प्रकृति की है। इस पद्धति के अन्तर्गत सभी योग्य व्यक्तियों को सरकारी सेवा में प्रवेश होने का अवसर मिलता है। यह पद्धति समानता एवं योग्यता के सिद्धान्तों पर आधारित है।

2. इस पद्धति द्वारा सरकारी सेवा के लिए कर्मचारियों को चुनने का क्षेत्र विस्तत हो जाता है। इसमें कोई भी व्यक्ति किसी पद के लिए प्रार्थना–पत्र देकर प्रतियोगिता में भाग ले सकता है और अपनी योग्यता अनुसार पद प्राप्त कर सकता है।

3. इस पद्धति के अन्तर्गत नवयुवकों को सरकारी सेवा में प्रवेश करने का अवसर मिलता है। ये नवयुवक कर्मचारी नए–नए कार्यों का ज्ञान उत्साहपूर्ण प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। उनकी विचारधारा नवीन होती है और वे अपने उत्तरदायित्व को बड़े उत्साह तथा जिम्मेदारी से निभाते हैं। इससे प्रशासन में रूढ़िवादिता नहीं आती और प्रशासन में विशालता का विकास होता है। प्रशासन में नवीन प्रयोग किए जा सकते हैं।

4. इस पद्धति में कर्मचारियों को नवीन प्रकृति एवं ज्ञान से परिचित रहने के लिए प्रेरणा मिलती है तथा वे अपने ज्ञान को दिनाप्त (Upto-date) रखते हैं क्योंकि उन्हें ऊंचे पदों की प्रतियोगिता में. नवयुवकों का मुकाबला करना पड़ता है। इससे प्रशासन में नवीनता बनी रहती है और कार्यक्षमता बढ़ती है।

5. बाहर से भर्ती होकर सरकारी सेवा में प्रवेश होने वाले कर्मचारी विभाग में कार्य करने वाले कर्मचारियों में पाए जाने वाले विभागीय दोषों से मुक्त होते हैं और अपनी सेवाओं को बनाए रखने के लिए ईमानदारी तथा मेहनत से काम करते हैं।

6. इस प्रशासन में नए रक्त का संचार होता है जिससे शासन की कुशलता बढ़ती है बाहरी भर्ती न होने पर कर्मचारियों को ऐसी अवस्था में ऊंचे पदों पर नियुक्त किया जाता है। जिस समय उनमें कार्यारम्भ क्षमता (Initiative) और फुर्ती से काम करने की शक्ति समाप्त हो जाती है।

बाहर से भर्ती के दोष (Disadvantages of Recruitment from Without)

1. इसमें बिना प्रशासकीय अनुभव के लोग सरकारी सेवा में आते हैं और उन्हें प्रशासन का काम चलाने में कठिनाई पड़ती है।

2. इस पद्धति द्वारा भर्ती किए जाने वाले कर्मचारी अनुभवहीनता के कारण अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के हाथों कठपुतली बन जाते हैं। वे स्वयं विवेकशील नहीं रहते।

3. इससे विभागीय कर्मचारियों के साहस का अन्त हो जाता है। जब उन्हें इस बात का ज्ञान होता है कि उन्हें पदोन्नति के स्थान पर नवीन लोगों के साथ प्रतियोगिता परीक्षा में बैठना पड़ेगा और इस परीक्षा में सफल होने पर ही उन्नति कर पायेंगे तो वे अपने दायित्व से लापरवाह हो जाते हैं।

4. इस पद्धति के अधीन वृद्धि और अनुभवी लोगों को नवयुवकों के अधीन काम करना पड़ता है जिसके कारण उनमें ईर्ष्या और जलन पैदा हो जाती है। वे हार्दिक सहयोग नहीं देते जिससे शासन में नीरसता आ जाती है।

5. इस पद्धति का आधार प्रतियोग्यता परीक्षा होती है। परीक्षा में अच्छे अंक लेकर सफल होने वाला व्यक्ति सभी बातों में कुशल होगा, यह विश्वास करना कल्पना है। यह आवश्यक नहीं कि वह व्यक्ति व्यावहारिक रूप में कुशल हो।

6. इस पद्धति के अधीन कई बार नियुक्ति केवल मौखिक परीक्षा (Interview) के आधार पर की जाती है। यह विश्वास करना है कि कुछ समय में मौखिक परीक्षा द्वारा व्यक्ति की योग्यता को परखा जा सकता है उचित नहीं।

भर्ती की समस्याएं

प्रशासन की प्रारम्भिक शब्दावली में भर्ती का अर्थ विशिष्ट पदों हेतु उपयुक्त प्रकार के उम्मीदवारों को आकर्षित करना है। किन्तु प्रशासन के लिए उपयुक्त और योग्य व्यक्तियों के चयन में निम्नलिखित समस्याएं सामने आती हैं:

(1) चयन करने की शक्ति किसको प्राप्त होनी चाहिए?
(2) भर्ती के तरीके क्या हों?
(3) उम्मीदवारों की योग्यताएं क्या हों?
(4) योग्यताओं को निर्धारित करने के तरीके क्या हों?
(5). योग्यताओं का निर्धारण करने का प्रशासकीय तन्त्र क्या हो?

1. चयन शक्ति

भर्ती के सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यही है कि लोक सेवकों के चयन की शक्ति किसको प्राप्त हो। क्या जनता प्रत्यक्ष रीति से अधिकारियों का चुनाव करे अथवा कोई अधिकारी या कोई शासकीय अंग यह कार्य करे। प्रथम तरीके को प्रजातन्त्रीय तरीका कहा जाता है, किन्तु यह संभव नहीं है। चयन का दूसरा तरीका यह है कि चयन शक्ति औपचारिक रूप में मुख्य कार्यपालिका को दी जाये परन्तु वास्तविक रूप में यह अर्द्धन्यायिक स्वायत्त अंग लोक सेवा आयोग के पास होती है। आज विश्व के बहुत से देशों में लोक सेवा आयोग चयन हेतु कार्यरत है। भारत में भी लोक सेवा आयोग चयन का कार्य कर रहा है, किन्तु कुछ पदों जैसे राज्यपाल, राजदूत आदि का चयन मुख्य कार्यपालिका करती है।

2. भर्ती के तरीके:

भर्ती से सम्बन्धित अगली समस्या प्रत्यक्ष भर्ती बनाम अप्रत्यक्ष भर्ती की है। लेबी मेयर्त के अनुसार, ''चयन के तरीके मुख्यतया दो हैं: सेवा से बाहर से भर्ती अथवा सेवा के अन्दर से चुनाव।'' यह समस्या केवल दो तरीकों में से एक को छांटने की ही नहीं है अपितु इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण कार्मिक प्रणाली के स्वरूप से है।

इन दोनों प्रकारों के गुण व अवगुण हैं। भर्ती के तरीके की समस्या वास्तव में उच्चतर मध्य स्तरीय पदों के सम्बन्ध में ही उत्पन्न होती है। यह स्पष्ट है कि निम्नतम पदों की भर्ती प्रत्यक्ष (बाहर से) होगी क्योंकि उनके नीचे कोई ऐसा कार्मिक स्तर नहीं होता जिससे पदोन्नति करके भर्ती की जा सके। यह भी स्पष्ट है कि विभागाध्यक्षों जैसे उच्च्तर पदों के लिए बाहर से नये और अनुभवहीन व्यक्तियों का भर्ती किया जाना ठीक नहीं होता है। अतः अधिकांश देशों में दोनों ही प्रकार से लोक सेवाओं में भर्ती होती है।

3. कार्मिकों की योग्यताएंः

कार्मिकों की योग्यताएं क्या हों, इसका निर्धारण करना भी भर्ती की एक समस्या है। लोक सेवाओं की कार्य कुशलता इस बात पर निर्भर करती है, कि कार्मिकों की योग्यताएँ क्या उस सेवा हेतु उपयुक्त हैं। प्रत्येक देश में लोक सेवा में प्रवेश हेतु कुछ योग्यताएं निर्धारित की जाती हैं। ये दो प्रकार की होती हैंः–सामान्य तथा विशेष। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत नागरिकता, लिंग निवास, स्थान एवं आयु सग्मलित हैं तथा दूसरी प्रकार के अन्तर्गत शिक्षा, अनुभव, प्राविधिक ज्ञान तथा वैयक्तिक गुण आते हैं।

योग्यता निर्धारण के तरीकेः

लोक सेवाओं हेतु आवश्यक योग्यताओं का निर्धारण करना भी आवश्यक हो जाता है। इन योग्यताओं को निश्चित करने का उद्देश्य सरकारी सेवा में योग्य एवं कुशल व्यक्तियों को लेना है। ज्ञान द्वारा ही योग्यता फलीभूत होती है। इस योग्यता का आकलन एक प्रकार से जटिल प्रक्रिया है, लेकिन लोक सेवा में प्रवेश पाने से पूर्व इस जटिल प्रक्रिया का समाधान अवश्य खोज लिया जाता है। सामान्यतया, योग्यताओं को निर्धारित करने में निम्नलिखित ढंग प्रस्तुत किये जाते हैंः

(1) नियोक्ता का वैयक्तिक निर्णय।
(2) क्षमता, चरित्र और शिक्षा सम्बन्धी प्रमाण पत्र।

प्रत्येक देश में आज प्रतियोगिता परीक्षाओं का आयोजन सेवाओं हेतु किया जाता है।

5. योग्यता निर्धारण के लिए प्रशासकीय तंत्रः

लोक सेवाओं को व्यवस्थित और पूर्ण बनाने का दायित्व प्रतिभाशाली लोक सेवकों पर होता है, उनके चयन हेतु एक स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रशासकीय तन्त्र का होना आवश्यक होता है। वर्तमान में प्रायः सभी देशों में योग्यता निर्धारण हेतु प्रशसकीय तन्त्र कार्यरत हैं, जिन्हें लोक सेवा आयोग कहा जाता है। भारत में इस दायित्व को केन्द्र और राज्यों में पृथक–पृथक् लोक सेवा आयोग सम्पन्न करते हैं।

इस प्रकार कार्मिक प्रशासन में भर्ती को उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए। लोक सेवाओं के लिए प्रतिबद्ध, योग्य, कार्य कुशल उच्च मनोबल के व्यक्ति चयनित होंगे, तभी प्रशासन अच्छा हो सकता है। अतः लोक सेवकों की भर्ती उचित एवं आदर्श व्यवस्था नितान्त आवश्यक प्रतीत होती है।

भर्ती की समस्याओं का अध्ययन करने के पश्चात अब हम भारत में भर्ती प्रणाली का अध्ययन करेंगे।

भारत में भर्ती प्रणाली

कहा जाता है कि चीन प्रथम देश है जिसमें प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा भर्ती की वैज्ञानिक पद्धति का विकास ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ। आधुनिक काल में प्रशिया (Prussia) ने प्रतियोगी पद्धति को सर्व प्रथम अपनाया था। भारत में यह पद्धति सन 1853 में आरम्भ हुई। भारतीय संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार तथा घटक राज्यों प्रशासन हेतु पृथक–पृथक् लोक सेवाओं के प्रावधान किये गये हैं। वास्तव में लोक सेवाओं को तीन मुख्य श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया हैः

(1) अखिल भारतीय सेवाएं।
(2) केन्द्रीय सेवाएं तथा
(3) राज्य सेवाएं।

इनमें से केन्द्रीय सेवाएं केन्द्रीय विषयों जैसे विदेशी मामले, सुरक्षा, आय–कर, सीमा शुल्क, डाक–तार, रेलवे, तथा अंकेक्षण आदि का प्रबन्ध करती है जो संघीय विषय हैं। केन्द्रीय सेवाओं के पदाधिकारी पृथक रूप से केन्द्रीय सरकार के कार्मिक होते हैं। इसी प्रकार राज्य सेवाएं राज्यों के क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित विषयों जैसे भू–राजस्व, स्वास्थ्य, वन आदि का प्रबन्ध करती है। इन सेवाओं के कार्मिक पूर्णतया राज्य सरकारों के अधीन होते हैं। प्रशासन की एक विशेषता यह है, कि कुछ सेवाएं संघ तथा राज्यों दोनों हेतु सामान्य रूप से संगठित की गयी है, जैसे अखिल भारतीय सेवाएं। इस सेवा के अधिकारी पूर्णतः केन्द्रीय अथवा राज्यों की सेवाओं में नहीं होते अपितु दोनों में से किसी एक के अन्तर्गत विभिन्न समयों पर कार्य करते हैं। इनकी भर्ती अखिल भारतीय आधार पर होती हैं और वेतनमान समान होता है। वर्तमान में भारतीय प्रशासनिक सेवा, भारतीय पुलिस सेवा और भारतीय वन सेवा अखिल भारतीय सेवा है।

भारत में अखिल भारतीय सेवाओं तथा अन्य केन्द्रीय सेवाओं की भर्ती संघ लोक सेवा आयोग द्वारा की जाती है। भर्ती प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से होती है। उच्च लोक सेवाओं में प्रत्यक्ष भर्ती 1979 से पूर्व एक लिखित परीक्षा तथा साक्षात्कार द्वारा होती थी।

सन् 1979 में प्रारम्भ की गयी सिविल सेवा परीक्षा की नयी प्रणाली प्रतियोगिता परीक्षाओं की प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण नवोन्मेष है। अब उच्चस्तरीय लोक सेवा के लिए परीक्षा दो चरणों में हो रही है। प्रथम चरण में एक प्रारम्भिक परीक्षा जून माह में आयोजित की जाती है, जो अभिकांक्षी उम्मीदवारों की योग्यता की अनुवीक्षण परीक्षा मानी जाती है। जो इस अनुवीक्षण परीक्षा में सफल होते हैं, वे ही मुख्य परीक्षा में बैठ सकते हैं। यह परीक्षा की एकीकृत योजना है, जिसके द्वारा अखिल भारतीय तथा केन्द्रीय सेवाओं में अधिसंख्य पदों हेतु भर्ती की जाती है। इससे उम्मीदवार एक ही परीक्षा देकर अपनी श्रेष्ठता के आधार पर इसमें से किसी एक सेवा में प्रवेश कर सकते हैं।

प्रतियोगी परीक्षाओं में भाग लेने हेतु पात्रताः

(1) भारतीय प्रशासनिक और भारतीय पुलिस सेवा के उम्मीदवार को भारत का नागरिक होना चाहिए। अन्य सेवाओ में उम्मीदवार को या तो भारत का नागरिक होना चाहिए था नेपाल, भूटान, तिब्बती शरणाथी हो।
(2) युवक और युवतियां दोनों ही परीक्षा में बैठ सकते हैं, जिनकी आयु 21 वर्ष और 28 वर्ष के भीतर हो। अधिकतम आयु सीमा में कुछ विशिष्ट वगों को 5 वर्ष तक की छूट दी जाती है।
(3) उम्मीदवार के पास भारत के केन्द्र या राज्य विधान मंडल द्वारा नियमित किसी विश्वविद्यालय की स्नातक की डिग्री होनी चाहिए।
(4) सामान्य उमीदवार को निर्धारित आयु सीमा में तीन ही अवसर मिलते हैं। अनुसूचित जाति एवं जनजाति के उम्मीदवारों के लिए अवसरों की कोई सीमा नहीं है। यदि कोई उम्मीदवार प्रारम्भिक परीक्षा में बैठता है तो एक अवसर गिना जाता है।

उम्मीदवार का साक्षात्कार एक बोर्ड (मण्डल) द्वारा होगा जिसके सामने उम्मीदवार के परिचयवृत्त का अभिलेख रहेगा। उससे सामान्य रूचि की बातों पर प्रश्न पूछे जाएंगे। इससे उम्मीदवार की मानसिक सतर्कता, आलोचनात्मक ग्रहण शक्ति, संतुलित निर्णय की शक्ति, रुचि की विविधता, बौद्धिक और नैतिक ईमानदारी आदि की जांच हो सकती है।

वर्तमान में लोक सेवा परीक्षा की योजना

खण्ड –1

परीक्षा की योजना

इस प्रतियोगिता परीक्षा में दो चरण हैं–

1. प्रधान परीक्षा के लिए उम्मीदवारों के चयन हेतु सिविल सेवा प्रारम्भिक परीक्षा (वस्तु पूरक) तथा
2. विभिन्न सेवाओं तथापदों पर भर्ती हेतु उम्मीदवारों का चयन करने के लिए सिविल सेवा (प्रधान) परीक्षा लिखित तथा साक्षात्कार।

खण्ड–2

1. प्रारम्भिक तथा प्रधान परीक्षा की रूपरेखा तथा विषय :

(क) प्रारम्भि परीक्षा

उक्त परीक्षा में दो प्रश्न–पत्र होंगें–
प्रश्न पत्र (प्रथम) सामान्य अध्ययन 150 अंक
प्रश्न पत्र (द्वितीय) 300 अंक
कुल योग 450 अंक

नीचे पैरा 2 में दिए गए एच्छिक विषयों में से चुना गया एक विषय।

2. ऐच्छिक विषयों की सूची :

कृषि विज्ञान, रसायन विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, सिविल इन्जीनीयरिंग, विद्युत इंजीनियरिंग, भू–विज्ञान, भूगोल, विधि अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, लोक प्रशासन, समाज शास्त्र, राजनीति विज्ञान, प्राणि विज्ञान, भौतिकी, सांख्यिकी आदि।

टिप्पणी:

(1) दोनों ही प्रश्न–पत्र वस्तु परक (बहुविकल्पी प्रश्न) होंगे।
(2) प्रश्न–पत्र हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में होंगे।
(3) प्रत्येक प्रश्न–पत्र दो घण्टे का होगा।
(4) ऐच्छिक विषयों के लिए पाठ्य विवरणों की पाठ्यक्रम सामग्री डिग्री स्तर पर होगी।

(ख) प्रधान परीक्षा

लिखित परीक्षा में निम्नलिखित प्रश्न–पत्र होंगे

प्रश्न पत्र 1 संविधान की आठवीं अनुसूची में सम्मिलित भाषाओं मे ंसे उम्मीदवारों द्वारा चुनी गई कोई, एक भारतीय भाषा।

प्रश्न पत्र 2 अंग्रेजी अंक 300
प्रश्न पत्र 3 निबन्ध अंक 200
प्रश्न पत्र 4 और 5 सामान्य अध्ययन प्रत्येक प्रश्न–पत्र के लिए
अंक 300+300 =600

प्रश्न पत्र 6,7,8,9 विषयों की सूची में से चुने जाने वाले कोई दो विषय प्रत्येक विषय को दो प्रश्न पत्र होंगे। प्रत्येक प्रश्न पत्र के लिए अंक 300x4 =1200

(ग) साक्षात्कार परीक्षण :

उम्मीदवार का साक्षात्कार एक बोर्ड (मण्डल) द्वारा होगा जिसके सामने उम्मीदवार के परिचयवृत्त का अभिलेख रहेगा। उससे सामान्य रूचि की बातों पर प्रश्न पूछे जाएंगे। इससे उम्मीवाद की मानसिक सतर्कता, आलोचनात्मक ग्रहण शक्ति, संतुलित निर्णय की शक्ति, रूचि की विविधता, बौद्धिक और नैतिक ईमानदाीि आदि की जांच हो सकती हैं।

टिप्पणीः

(1) भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी के प्रश्न–पत्र मैट्रीकुलेशन अथवा समकक्ष स्तर के होंगे। इनमें केवल अर्हता प्राप्त करनी होगी और इनके प्राप्त अंकों को योग्यता क्रम निर्धारित करने में नहीं गिना जाएगा।

(2) केवल उन्हीं उम्मीदवारों के सामान्य अध्ययन तथा वैकल्पिक विषयों के प्रश्न पत्रों का मूल्यांकन किया जाएगा जो भारतीय भाषा और अंग्रेजी के अर्हक प्रश्न पत्रों में आयोग द्वारा अपनी विवक्षा पर निर्धारित न्यूनतम स्तर प्राप्त कर लेंगे।

(3) ऐच्छिक विषयों की सूचिः

कृषि विज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, रसायन विज्ञान, प्रबन्ध, भौतिकी, मनोविज्ञान, लोक प्रशासन, समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, प्राणि विज्ञान, दर्शन शास्त्र, विद्युत इंजीनियरी, सिविल इंजीनियरींग आदि।

(4) परीक्षा के लिए प्रश्न–पत्र परम्परागत निबन्ध शैली के होंगे।

(5) प्रत्येक प्रश्न–पत्र तीन घण्टे की अवधि का होगा।

(6) भाषा–सम्बन्धी प्रश्न–पत्रों को छोड़कर बाकी सभी प्रश्न–पत्र हिन्दी और अंग्रेजी में होंगे।

सिविल सेवा परीक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तनः

संघ लोक सेवा आयोग ने सतीश चन्द्र समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए, 1993 से सिविल सेवा परीक्षा में कुछ परिवर्तन करने का निश्चय किया। अब सिविल सेवा परीक्षा (मुख्य) में 200 अंकों का निबन्ध आरम्भ किया गया। परीक्षार्थी इसका उत्तर अंग्रेजी या संविधान की आठवीं अनुसूची की किसी भी भाषा में दे सकेंगे। व्यक्तित्व परीक्षण (साक्षात्कार) अब 250 अंकों के स्थान पर 300 अंकों का और लिखित परीक्षा तथा व्यक्तित्व परीक्षण के लिए 2050 के स्थान पर 2300 अंक है। यह नई व्यवरथा 1995 की परीक्षाओं से लागू की गई है। अब वैकल्पिक विषयों की सूची में फ्रांसीसी, जर्मन, चीनी, रूसी, अरबी, फारसी और पाली भाषाओं को हटाया जा रहा है। समिति ने शिक्षा, इलेक्ट्रॉनिक्स और दूरसंचार तथा चिकित्सा विज्ञान को वैकल्पिक विषयों के रूप में प्राथमिक व मुख्य परीक्षा में सम्मिलित करने की सिफारिश की है। चिकित्सा विज्ञान को 1994 की परीक्षाओ से वैकल्पिक विषय के रूप में सम्मिलित किया गया है।

उल्लेखनीय है कि संघ लोक सेवा आयोग ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के पूर्व अध्यक्ष श्री सतीश चन्द्र की अध्यक्षता में एक समीति अगस्त 1988 में गठित की थी, जिसने अगस्त 1989 में अपनी रिपोर्ट (प्रतिवेदन) आयोग को सौंप दी थी।

मूल्यांकनः

भारत में उच्च लोक सेवाओं में भर्ती हेतु वर्तमान प्रधान परीक्षा के प्रश्न–पत्रों में प्राप्त कुल अंकों को साक्षात्कार के प्राप्तांकों को जोड़कर योग्यता सूची बनाई जाती है। आवेदन पत्र में उम्मीदवार की सेवा विशेष की

मांग एवं सूची में उसके स्थान के आधार पर प्रत्येक चयनित उम्मीदवार की सेवा निर्धारित कर दी जाती है। इसकी सिफारिश संघीय लोक सेवा आयोग भारत के कार्मिक और प्रशासनिक सुधार मंत्रालय को कर देता है। भारत सरकार द्वारा नियुक्ति पत्र सफल प्रत्याशियों को भेजे जाते हैं। वास्तव में लोक सेवाओं में चयन के पश्चात अभ्यार्थियों को पद प्राप्त करने से पूर्व प्रशिक्षण लेना होता है। अतः इन्हें प्रशिक्षण हेतु प्रशिक्षण संस्थाओं में भेज दिया जाता है।

प्रशिक्षण
Training

भारत में लोक सेवकों की भर्ती और चयन के पश्चात् उनकी प्रशिक्षण की समस्या कार्मिक प्रशासन के सामने आती है। जैसा की सबको ज्ञात है कि किसी भी व्यक्ति को अपने पद का उत्तरदायित्व निभाने हेतु प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। लोक सेवकों के कार्य की प्रकृति और स्वरूप इतना जटिल और भिन्न होता है कि उसे असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति को भी कुछ आवश्यक जानकारी की अपेक्षा होती है। इस प्रकार की जानकारी की व्यवस्था का नाम ही प्रशिक्षण है। कछ देशों में सरकारी सेवा एक व्यवसाय (Profession) के रूप में विकसित हुई है, जिसे प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षण लोक सेवकों को उनकी मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक क्षमताओं को बढ़ाने में मदद करता है। प्रशासकों को उस कार्य को सम्पन्न करने हेतु प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है जिसके लिए उनकी भर्ती हुई है।

प्रशिक्षण का अर्थ

शब्द कोष में इसका अर्थ किसी व्यवसाय, कला या हस्तकला में प्रायोगिक शिक्षा, निर्देश तथा अनुशासन है। लोक प्रशासन में इसका अर्थ है, कार्मिक कौशल, उसकी बुद्धि और शक्तियों को उन्नत करने हेतु की गई प्रत्यक्ष कोशिश तथा वांछित दिशा में उसकी रूचियों एवं मूल्यों के बारे में उसके दृष्टिकोण को विकसित करना।" प्रशासनिक सुधार आयोग के अनुसार "प्रशिक्षण मानव संसाधनों में निवेश है, यह मानवीय क्षमता को बढ़ाने तथा कार्मिक कुशलता में अभिवृद्धि का महत्वपूर्ण साधन है।" विचारक विलियम जी० दोरपी के अनुसार ''प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कार्मिकों की उनके वर्तमान पदों पर दक्षता बढ़ाने के लिए उनके कौशल, ज्ञान एवं उनकी रूचियों तथा आदतों को विकसित किया जाता है, ताकि वे भावी सरकारी पद पर भी अपने कार्य को ठीक प्रकार से कर सकें।''

प्रशिक्षण के उद्देश्य

लोक प्रशासन में कार्मिकों हेतु प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रशिक्षण के द्वारा उनमें काम को बिल्कुल सही प्रकार से करने का कौशल आता है। यह उनमें आत्मविश्वास और स्वतन्त्रता की भावना उत्पन्न करता है और निर्णय शक्ति को विकसित करता है। यह वास्तव में एक सतत प्रक्रिया है। लोक सेवकों के प्रशिक्षण पर विचार करने हेतु सन् 1944 मे यू के. (U.K) में गठित अशेटन समिति (Assheton Committee) ने प्रशिक्षण के प्रमुख उददेश्यों को इन शब्दों में वर्णित किया है, कि ''किसी विशाल संगठन में दक्षता दो तत्त्वों पर निर्भर करती है. कार्मिक की उसे दिये गये कार्य को करने को प्राविधिक दक्षता तथा संगठन की एक निगमात्मक निकाय के रूप में दक्षता जो उन कार्मिकों की सामूहिक भावना एवं उनके दृष्टिकोण पर निर्भर करता है जिनसे मिलकर यह निकाय बना है। प्रशिक्षण में इन दोनों तत्त्वों पर ध्यान देना चाहिए। इस समिति द्वारा प्रशिक्षण के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य बताये गये हैं।

1. लोक सेवा कार्य निष्पादन कला स्पष्टता एवम् यथार्थता विकसित करना।

2. परिवर्तित समय की नयी माँग के अनुसार लोक सेवक के दृष्टिकोण तथा कार्य तकनीक' में निरन्तर सामंजस्य बनाये रखना।
3. प्रशिक्षण कार्मिकों को यन्त्रवत बनने से रोकता है। यह उन्हें उस कार्य से परिचित करवाता है, जो उन्हें समाज की सेवा हेतु करना है, ताकि वे सजीव ओर उदार बने रहें।
4. यह उन्हें केवल वर्तमान कर्तव्यों को अधिक दक्षतापूर्वक करने योग्य नहीं बनाता अपितु उन्हें भविष्य में उच्चतर उत्तरदायित्वों और अधिक कार्यों को करने के भी योग्य बनाता है।
5. प्रशिक्षण दीक्षित व्यक्तियों के मान को विशद् करता है ताकि उनमें यह भावना बनी रहे कि वे लोक सेवी हैं न कि लोक स्वामी।

कोल्डवैल (Coldivell) ने ठीक ही कहा है कि "प्रभावशाली प्रशासन में संगठनात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रभावशाली प्रशिक्षण की आवश्यकता है. क्योंकि यदि कार्मिकों को बिना किसी पथ–प्रदर्शन या सहारे के स्वयं शिक्षित होने के लिए छोड दिया जाता है तो इससे काफी हानि हो सकती है। अतः कार्मिकों हेतु प्रशिक्षण आवश्यक व लाभकारी है।

प्रशिक्षण के प्रकार
(Kinds of Training)

विस्तृत रूप में विधि के आधार पर प्रशिक्षण के दो ही प्रकार – औपचारिक तथा अनौपचारिक होते हैं

(क) अनौपचारिक (Informal) – यह स्वरूप प्रशिक्षण का परम्परागत रूप है जिसे सदैव प्रयोग में लाया जाता है। इस विधि का प्रयोग प्रशासन के अधिकांश भाग में किया जाता है तथा प्रशासन की अधिकांश इकाईयों एवं निकायों में कर्मचारी इसी प्रकार से प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। साधारण शब्दों में अनौपचारिक प्रशिक्षण से अभिप्राय उस प्रकार के प्रशिक्षण से है जिसमें कर्मचारी अपने उच्च अधिकारी के अधीन काम करते हुए अपनी त्रुटियों से सीखते हैं तथा अनुभव के माध्यम से प्रशासकीय कुशलता प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में इस विधि के अन्तर्गत नए कर्मचारियों को न्यूनतम परामर्श देकर कार्य पर लगा दिया जाता है। कर्मचारी अपने उच्च कर्मचारी के निरीक्षण में काम करते–करते अपने ही अनुभव से सीखते हैं या उच्च कर्मचारी उन्हें कभी–कभी दैनिक कार्य करते समय परामर्श या हिदायत देते हैं जिनसे उन्हें अपने कार्य के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है।

संक्षिप्त रूप में इस विधि को 'काम करो और जानो' (Work and Know) या अनुभव द्वारा प्रशिक्षण कहा जा सकता है। पदाधिकारियों की वास्तविक शिक्षा तभी होती है जब वे फाइलों तथा कागजात से व्यक्तिगत रूप में सम्पर्क स्थापित करते हैं। मिल्टन एम० मैंडल (Milton M. Mandell) के अनुसार, "कर्मचारी तथा उनके उच्चाधिकारियों के बीच के दैनिक सम्बन्धों, सभाओं तथा कर्मचारी–वर्ग की बैठकों, कर्मचारियों के समाचार–पत्रों तथा संगठन के प्रकाशनों, व्यावसायिक संघों की बैठकों तथा उस साहित्य के पढ़ने और अध्ययन द्वारा जो कर्मचारी स्वयं अपने संकल्प से या अपने निरीक्षक (Supervisor) के सुझाव पर प्रयोग में लाता है उनसे भी प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है। क्योंकि ऐसे प्रशिक्षण का सम्बन्ध कर्मचारी के नियमित कार्यों से होता है, इसलिए वह अपने निजी अनुभव से मिलाकर सर्वोत्तम लाभ उठा सकता है। अपितु इससे सम्बन्धित कोई बाध्यता नहीं है, अतः इसकी प्रवृत्ति साकारात्मक होती है। इसका प्रभाव चाहे अच्छा हो या बुरा, गहरा होता है।

अतः अनौपचारिक प्रशिक्षण से अभिप्राय काम करने से प्रशिक्षण प्रयोग एवं त्रुटि से अध्ययन तथा अनुभव से प्रशासकीय निपुणता की प्राप्ति है। भारत में इस प्रकार के प्रशिक्षण को अंग्रेजों ने उपराजस्व अधिकारियों (Assistant Collectors) को प्रशिक्षण देने के लिए अपनाया था जिसके अनुसार नवीन अधिकारी अपने उच्च अधिकारियों के अधीन काम करते थे और परस्पर सम्बन्धों के आधार पर प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। उच्च अधिकारी दैनिक कार्यो को

करते समय अपने अधीन नवीन अधिकारियों को परामर्श तथा हिदायतें देकर उन्हें प्रशासन तथा उनके कार्यों के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करते हैं। जब कभी वे अपना कार्य करते हुए त्रुटि करें तो उन्हें ठीक मार्ग बता कर उनका नेतृत्व करते हैं।

इससे नवीन अधिकारियों में उपक्रमण, प्रशासकीय कुशलता, दायित्व, क्षमता तथा प्रशासकीय नेतृत्व की योग्यताओं का विकास होता है। परन्तु अनौपचारिक प्रशिक्षण की सफलता, उच्च अधिकारी के अनुभव, व्यवहार तथा नए अधिकारियों में रूचि तथा नए अधिकारी द्वारा निरन्तर प्रयास, उच्च अधिकारियों के प्रति सम्मान की भावना तथा काम सीखने की धारणा पर निर्भर करती है। अनौपचारिक प्रशिक्षण किसी योग्य पदाधिकारी की देख–रेख में रहकर तथा उससे सहानुभूति प्राप्त करके ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि पदाधिकारी का रूख सहानुभूतिपूर्ण न हो और वह कर्मचारी से उदारता का व्यवहार न करे तो कर्मचारी हताश एवं हतोत्साहित हो जाएगा और वह कुछ भी नहीं सीख सकेगा। संक्षेप में अनौपचारिक प्रशिक्षण निरीक्षक अधिकारी (Supervising Officer) के उदार विचारों एवं उसकी सहानुभूति से ही सम्भव हो सकता है। यदि निरीक्षक अधिकारी नए प्रवेश होने वाले अधिकारी या कर्मचारी को आदर, सम्मान तथा प्रोत्साहन न दें तो उसका अनौपचारिक प्रशिक्षण सम्भव नहीं हो सकता। अतः इस विधि के अधीन प्रशिक्षण प्राप्त करना नए कर्मचारी की लग्न तथा उच्च अधिकारी के अधीन कर्मचारियों में रूचि पर निर्भर है।

टिकनर (Tickner) ने इसके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है, ''सीखने का यह मार्ग कठोर है और पूर्णतः सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि सीखने वाला सखिने पर तुला हुआ हो। औसत कर्मचारी में इससे बुरी आदतें, निराशा तथा उत्साहहीनता उत्पन्न हो सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि नए कर्मचारी दत्तचित्त होकर काम सीखने का प्रयास करें और उच्च अधिकारी उन्हें पूर्ण रूचि तथा लग्न से प्रशिक्षण दें तथा उनका मार्गदर्शन करें।

(ख) औपचारिक प्रशिक्षण (Formal Training) – जब विभागीय अध्यक्षों अथवा उच्च अधिकारियों द्वारा कर्मचारियों को उपदेशों, प्राध्यायों निर्देशों आदि द्वारा प्रशिक्षण दिया जाए तो उसे औपचारिक प्रशिक्षण कहते हैं। इस प्रकार का प्रशिक्षण देने के लिए प्रशासकीय विद्यालयों तथा संस्थाओं की स्थापना की जाती है। इस प्रशिक्षण द्वारा कर्मचारियों को विभाग की कार्यप्रणाली उनके कर्तव्यों तथा आचार संहिता (Code of Conduct) आदि से परिचित करवाया जाता है ताकि वे कार्यालय में पहुंचते ही अनुशासन में रहते हुए अपने कार्यों को भली भान्ति समझ तथा कर सकें। इसके द्वारा कर्मचारियो को अपने कर्तव्यों का ज्ञान हो जाता है और उनमें अपने कार्यो को करने की क्षमता बढ़ जाती है। इसमें केवल उन्हें उनके कर्तव्यों तथा कार्यों से ही परिचित नहीं करवाया जाता बल्कि साथ ही आचार संहिता का ज्ञान प्रदान करके उन्हें अनुशासन में रहने के सम्बन्ध में भी बताया जाता है। अनौपचारिक प्रशिक्षण की तुलना में औपचारिक प्रशिक्षण नियमित ढंग से किया जाता है। इसका उद्देश्य कर्मचारी को अपने कार्य की प्रकति का ज्ञान पहले ही प्रदान करना होता है ताकि जब वह अपने पद को संम्भाले तो वह निस्संकोच होकर अपने कार्य को कर सके।

औपचारिक प्रशिक्षण एक लाभदायक सन्तुलित तथा पूर्व–नियोजित प्रक्रिया है।

औपचारिक प्रशिक्षण के भी कई स्वरूप होते हैं, जिनके आधार पर इसे निम्नलिखित प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं

1. **पूर्व प्रवेश प्रशिक्षण (Pre-entry Training)** – सरकारी सेवा में प्रवेश होने से पहले जो प्रशिक्षण दिया जाता है उसे पूर्व प्रवेश प्रशिक्षण कहते हैं। इसका उद्देश्य कर्मचारियों को सेवा में प्रवेश करने से पहले उन्हें अपने कार्यों से परिचित करवा कर सकुशल बनाने का यत्न करना होता है। व्हाइट (White) के अनुसार, "पूर्व प्रवेश प्रशिक्षण से प्रयोजन है कि सेवा में प्रवेश करने वाले महत्त्वाकांक्षा रखने वाला व्यक्ति परीक्षा पास करने की क्षमता प्राप्त कर ले या किसी अन्य प्रकार नियुक्ति के लिए योग्यता प्रदर्शित कर सके या अधिक व्यापक रूप में ऐसा ज्ञान या मानसिक गुण विकसित कर लें जिन से उसे आगे चल कर सफलता प्राप्त

होगी। ऐसे प्रशिक्षण की व्यवस्था स्कूलों, कालिजों, विश्वविद्यालयों तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं में की जाती है ताकि वहां से शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् युवकों को सरकारी सेवा तुरन्त प्राप्त हो सके और प्रशासन को पूर्व प्रशिक्षित पदाधिकारी एवं कर्मचारी मिल सकें। इसके उदाहरण चिकित्सा, तकनीकी इंजीनियरिंग आदि प्रशिक्षण हैं जिन्हें व्यवसायिक सेवाओं के लिए व्यवसाय केन्द्रों तथा शिक्षा केन्द्रों (स्कूल व कालिज) में निश्चित योजना अनुसार दिया जाता है। अध्यापक बनने के लिए B.Ed की शिक्षा प्राप्त करना भी इसी श्रेणी में आ जाता है। व्यवसायिक संस्थाओं में प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् परीक्षार्थी वास्तविक क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं।

पूर्व प्रशिक्षण प्रायः दो प्रकार का होता है– Internship and Apprenticeship- इन्टरनशिप (Internship) प्रशिक्षण, प्रशिक्षण का वह ढंग है जिसके द्वारा विशेष ढंग से चुने गए तथा पर्वेक्षित किए गए विद्यार्थियों को लोक प्रशासन में प्रशासकीय तथा नीति सम्बन्धी कार्यों के लिए तैयार किया जाता है। इस प्रशिक्षण द्वारा कर्मचारी को ऐसे कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है जो उनके वर्तमान कार्यों के अनुरूप हो। इसका अच्छा उदाहरण अमेरिका से प्राप्त होता है। यहां सेवाओं में प्रवेश होने से पहले ही विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं व्यावसायिक केन्द्रों से विद्यार्थियों का चयन करके प्रशिक्षण दिया जाता है।

इस उद्देश्य से ही वहां पर 1934 में नैशनल इंस्टीच्यूट ऑफ पब्लिक एफेयरज (National Institute of Public Affairs) की स्थापना की गई थी। इस संस्था में प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् उम्मीदवारों को विभिन्न सरकारी क्षेत्रों में कार्य करने के लिए भेज दिया जाता है। यह प्रणाली अब भारत, इग्लैड, फिलिपाइन आदि देशों में भी लोकप्रिय है। भारत में अनेक विश्वविद्यालयों में लोक प्रशासन सम्बन्धी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई है।

शिल्प शिक्षण व्यवस्था (Apprenticeship) का उद्देश्य व्यापार या उद्योगों के क्षेत्रों में कुशलता प्रदान करना है। विलियम जी० टॉपी (Williain G. Torpey) के अनसार शिल्पशिक्षण व्यवस्था का लक्ष्य व्यापार या शिल्प सम्बन्धी कुशलता प्रदान करना है। इस प्रकार के प्रशिक्षण में परीक्षार्थी को किसी एक अधिकारी के साथ रखा जाता है। जिसके सहायक के रूप में वह काम करता है और अधिकारी से व्यवहारिक तथा प्रशिक्षण प्राप्त करता है। यह प्रशिक्षण अनेक प्रकार के विषयों में दिया जा सकता है जैसे मेकैनिक, कलाकार आदि। इन दोनों प्रकार के प्रशिक्षणों में केवल अन्तर यह है कि प्दजमतदीपच प्रशिक्षण का सम्बन्ध प्रशासकीय या व्यवसायिक कार्यों से होता है जबकि शिल्प शिक्षण का सम्बन्ध व्यापारिक एवं औद्योगिक कुशलता से है।

सेवा कालीन प्रशिक्षण (In Service Training) – सेवा कालीन प्रशिक्षण उस प्रशिक्षण को कहते हैं जो कर्मचारियों को सेवा में प्रवेश करते ही दी जाती है। इस प्रक्रिया को उन देशों में अपनाया जाता है जहां पर लोक सेवाओं को जीविकोपार्जन का स्थायी माध्यम माना जाता है। ऐसे देशों में सेवाकालीन प्रशिक्षण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। वास्तव में जब कर्मचारियों को लोक–सेवाओं में भर्ती किया जाता है तो उनको कोई अनुभव नहीं होता। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि नए कर्मचारियों को उनके कार्यो एवं उत्तरदायित्वों से परिचित करवाया जाए ताकि वे अपने कार्य को कुशलता से कर सकें और उन्हें अपने कार्यों से सम्बन्धित बहुत सी नई बातों का ज्ञान प्राप्त हो सके।

इस प्रकार के प्रशिक्षण से कर्मचारी को अपने कार्य निष्पादन (Performance) में सुधार करने का अवसर मिलता है, उनके आत्मबल में वृद्धि होती है तथा नए कार्यों को करने के लिए जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रकार के प्रशिक्षण के लिए कोई विशेष व्यवस्था नहीं की जाती। कर्मचारियों को उनके काम के घण्टों में ही पर्यवेक्षक अधिकारियों द्वारा प्रशिक्षण दिया जाता है। परन्तु आधुनिक काल में पर्यवेक्षक अधिकारियों के अपने कार्यो में अधिक व्यस्त होने तथा कर्मचारियों की संख्या में अधिकतर वृद्धि होने के कारण इस प्रशिक्षण का कार्य करने के लिए बाहरी

प्रशिक्षण संस्थाओं अथवा विभागीय प्रशिक्षण केन्द्रों की सहायता ली जाती है। कई बार विश्वविद्यालयों तथा अन्य प्रशिक्षण संस्थाओं में कर्मचारियों को प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए भेजा जाता है। जैसे अखिल भारतीय प्रशासकीय सेवाओं में भर्ती किए गए पदाधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए राष्ट्रीय अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन मंसूरी की स्थापना की गई है। इंग्लैंड में भर्ती किए हुए व्यक्तियों को विश्वविद्यालयों में असैनिक सेवाओं में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। अमेरिका में भी इस प्रकार के प्रशिक्षण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। सरकार प्रशिक्षणार्थियों को उन विभिन्न केन्द्रों में भेजती है जहां पर लोक प्रशासन सम्बन्धी प्रशिक्षण दिया जाता है।

प्रवेशोपरन्त प्रशिक्षण (Post Entry Training) – सेवा में भर्ती होने के पश्चात् सेवाकालीन प्रशिक्षण के साथ ही प्रशिक्षण का काम समाप्त नहीं हो जाता। कर्मचारियों को अपने कार्यो में सदैव निपुण रखने के लिए उन्हें प्रवेशोपरान्त प्रशिक्षण देने की भी विशेष आवश्यकता है। प्रवेशोपरान्त प्रशिक्षण से अभिप्राय उस प्रशिक्षण से है जो कर्मचारी को वर्तमान तथा भावी पदों सम्बन्धी उत्तरदायित्वों का समुचित रूप में निर्वाह करने के लिए सेवा में कुछ समय काम करने के उपरान्त दिया जाता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य कर्मचारियों में कार्य कुशलता का स्तर बनाए रखना है।

कर्मचारी काफी समय तक काम करते–करते रूढ़िवादी बन जाते हैं। उन्हें नवीन धारणाओं का ज्ञान नहीं होता और न ही वे उन्हें जानने का यत्न करते हैं। ऐसी दशा में कर्मचारियों के ज्ञान का नवीनीकरण करने तथा उन्हें नवीन यन्त्रों, उपकरणों तथा प्रगतिशील बातों से परिचय करवाने के लिए प्रवेशोपरान्त प्रशिक्षण का सहारा लिया जाता है ताकि वे वर्तमान काल में होने वाले परिवर्तनों से परिचित रहें और उनके ज्ञान में समयानुकूल वृद्धि हो सके। इस प्रकार का प्रशिक्षण प्रायः दो ढंग से दिया जाता है।

प्रथम ढंग यह है कि कर्मचारियों को नवीन प्रशासकीय तकनीकों से परिचित करवाने के लिए उनके लिए नवीनीकरण पाठ्यक्रमों (Refresher Courses), सेमीनार आदि की व्यवस्था की जाये। इससे एक तो कर्मचारियों को अपने दैनिक कार्यो से कुछ समय के लिये अवकाश मिल जाता है तथा दूसरे उन्हें अपने कार्य से सम्बन्धित आधुनिक तकनीकों की जानकारी मिल जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था उच्च अधिकारियों के लिए की जाती है जैसे राष्ट्र अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन मंसूरी में आई०ए०एस० तथा अन्य उच्च अधिकारियों के लिए समय–समय पर नवीनीकरण पाठ्यक्रमों का प्रबन्ध किया जाता है। कई बार कर्मचारियों के लिये विभागीय प्रशासन द्वारा सेमीनार तथा भाषणों (Lectures) का भी प्रबन्ध किया जाता है ताकि कर्मचारी एक–दूसरे के तथा अधिक अनुभवी अधिकारियों के अनुभव से लाभ उठा सकें।

दूसरा ढंग कर्मचारी द्वारा अपनी योग्यता में स्वयं प्रयास से वृद्धि करना है। क्योंकि योग्यता में वृद्धि करना एवं अतिरिक्त ज्ञान द्वारा अनुभावात्मक व्यापकता प्राप्त करना राज्य का ही कर्तव्य नहीं, इसके लिए कर्मचारी का रूचि तथा प्रयास का होना आवश्यक है। इसलिए कर्मचारियों को अपनी योग्यता (Qualifications) में वृद्धि तथा सुधार करने का अवसर प्रदान करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्हें आवश्यक सुविधाए देना चाहिए। ताकि वे प्रशासन सम्बन्धी नवीन अनुसन्धानों एवं प्रयोगों का निरीक्षण तथा पर्यवेक्षण प्राप्त कर सके। कर्मचारियों के लिए इस कार्य के लिए वेतन सहित अवकाश अथवा छात्रवृत्ति आदि की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि वे पदोन्नति करने के लिए अपनी योग्यता में वृद्धि कर सकें। यदि आवश्यक हो तो उनके लिये विदेशों में जाने के लिए स्वीकृति तथा छात्रवृत्ति आदि की व्यवस्था भी करनी चाहिए। इस प्रकार के प्रयत्नों तथा योग्यता वृद्धि (Improve Qualifications) को लेखा कर्मचारी की व्यक्तिगत फाइल में सम्मिलित किया जाए और पदवृद्धि अथवा वेतन वृद्धि के समय उसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

आधुनिक काल में प्रवेशोपरान्त प्रशिक्षण की महत्ता को लगभग सभी देशों में अनुभव किया जाने लगा है। भारत में भी इसे विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसी उद्देश्य से विभिन्न प्रकार के सरकारी पदाधिकारियों के

समय–समय पर नवीनीकरण पाठयक्रमों सेमीनार की व्यवस्था की जाती है। कर्मचारियों को अपनी योग्यता में वृद्धि करने के लिए अध्ययन अवकाश (Study Leave), छात्रवृत्तियां तथा अन्य सुविधाएं दी जाती हैं।

अन्य प्रकार (Other Types) – चाहे मुख्य तौर पर प्रशिक्षण के उपरोक्त प्रकारों को ही महत्त्व दिया जाता है परन्तु फिर भी प्रशिक्षण की विधि के आधार पर इसके और भी कई प्रकार हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार है

4. **विभागीय तथा केन्द्रीय प्रशिक्षण (Departmental and Central Training)** – जब किसी विभाग द्वारा प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए जिसमें नए कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों को वरिष्ट अधिकारियों द्वारा प्रशिक्षण दिया जाए तो उसे विभागीय प्रशिक्षण कहते हैं। इसके उल्ट जब सभी विभागों के कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण का प्रबन्ध सरकार द्वारा किसी केन्द्रीय संस्था में किया जाए तो उसे केन्द्रीय प्रशिक्षण कहते हैं। भारत में प्रशासकीय सेवाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था केन्द्रीय शासन द्वारा दी जाती है।

5. **अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन प्रशिक्षण (Short and Long term Training)** – इन दोनों में अन्तर केवल अवधि का है। यदि प्रशिक्षण की अवधि बहुत कम (कुछ सप्ताह या महीने) हो तो उसे अल्पकालीन प्रशिक्षण कहते हैं जैसे संकट काल में सैनिकों को अल्पकालीन प्रशिक्षण दिया जाता है। परन्तु जब प्रशिक्षण की अवधि एक लम्बे समय के लिए हो तो उसे दीर्घकालीन प्रशिक्षण कहते हैं। जैसे भारत में आई० ए० एस० के पदाधिकारियों को एक वर्ष के लिए राष्ट्रीय अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन में प्रशिक्षण दिया जाता है।

6. **कलात्मक एवं आधारभूत प्रशिक्षण (Skill and Background Training)** – जब कर्मचारियों को किसी विशेष कला में निपुण करने के लिए प्रशिक्षण दिया जाये तो उसे कलात्मक प्रशिक्षण कहते हैं। पुलिस कर्मचारियों को अपराधों की रोकथाम करने तथा अपराधियों को पकड़ने में प्रशिक्षण देना इसी प्रकार के प्रशिक्षण का उदाहरण है। इसकी तुलना में जब प्रशिक्षण किसी सामान्य विषय तथा सामग्री के सम्बन्ध में दिया जाए ताकि कर्मचारी प्रशासन सम्बन्धी सभी समस्याओं को समझ सकें तो उसे आधारभूत प्रशिक्षण कहते हैं। ऐसी दशा में कर्मचारियों को उदार शिक्षा (Liberal Education) पर आधारित सामान्य विषयों में शिक्षा दी जाती है। राष्ट्रीय अकादमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन मंसूरी में प्रशासकीय सेवाओं में कर्मचारियों को इसी प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है।

प्रशिक्षण पद्धतियां
(Methods of Training)

कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के लिए कई प्रकार की विधियों को अपनाया जाता है। प्रशिक्षण देने की मुख्य विधियां निम्न प्रकार है।

1. **अनुभव द्वारा प्रशिक्षण (Training through Experience)** – इस विधि के अनुसार कर्मचारियों को तुरन्त काम पर लगा दिया जाता है ताकि वे भी काम करते हुए अपने अनुभव द्वारा स्वयं प्रशिक्षित हो जाएं। यह विधि प्रशिक्षण तथा त्रुटि के सिद्धान्त पर आधारित है जिसका अभिप्राय है काम करो और सीखो। इस विधि में कर्मचारी अपने विभाग के उच्च अधिकारियों से आदेश प्राप्त करते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनका परामर्श लेते हैं। यह सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि प्रशासन एक कला है। जिसमें निपुणता व्यावहारिक ज्ञान द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इस पद्धति के अन्तर्गत नए भर्ती होने वाले कर्मचारियों को सीधे काम पर लगा दिया जाता है और उन्हें इस प्रकार के काम सोपे जाते है। जिनसे उनका अनुभव धीरे–धीरे बढता जाता है और अन्त में वे अपने अनुभव से ही अपने कार्यों के संबंध में पूर्ण रूप से प्रशिक्षित हो जाते हैं। यह सिद्धान्त इसलिए अच्छा है क्योंकि अनुभव के द्वारा प्राप्त की हुई वस्तु एवं ज्ञान स्थायी तथा अधिक महत्व का होता है। परन्तु इसमें दोष यह है कि परीक्षण एवं त्रुटि की विधि के कारण प्रशासनिक कार्य–कुशलता का अभाव होता है जो सार्वजनिक हितों के विपरीत है।

2. **औपचारिक साधनों द्वारा (By Jormal Instructions)** – इस विधि के अन्तर्गत कर्मचारियों को प्रशिक्षण उसी प्रकार दिया जाता है जिस प्रकार कक्षाओं में विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती है। उच्च पदाधिकारी अपने अधीन कर्मचारियों को व्याख्यानों, आदेशों तथा हिदायतों द्वारा प्रशासन के सिद्धान्तों, विषय में तथा विभाग की व्यावहारिकता के बारे में निर्देश देते है जिससे कर्मचारियों को अपने कार्य के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है। इसी विधि द्वारा कर्मचारियों को विभागीय सूचनाएं दी जाती हैं।

3. **संचारण द्वारा प्रशिक्षण (Training through Communication)** – प्रशिक्षण की एक और विधि संचारण भी है। इसके द्वारा कर्मचारियों को उनके विभाग से सम्बन्धित नियमों तथा समस्याओं से अवगत करवाया जाता है ताकि वे अपने विभाग के नियमों तथा समस्याओं को समझ सकें तथा उनका समाधान कर सकें। इस विधि द्वारा विभागीय अध्यक्ष कर्मचारियों को उनके कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों, प्रतिबन्धों तथा विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में सूचनाएं भेजते हैं।

4. **सम्मेलन तथा वर्गीय वाद–विवाद द्वारा प्रशिक्षण (Training through Conference and Group Discussion)** – कर्मचारियों को प्रशिक्षण देने के लिए कई बार इस विधि को भी अपनाया जाता है। इस विधि के अनुसार एक या अनेक विभागों के प्रशिक्षणार्थियों का एक सम्मेलन बुलाया जाता है जिसकी अध्यक्षता किसी उच्च अधिकारी द्वारा की जाती है। इस सम्मेलन में कुछ चुनी हुई समस्याओं पर विचार–विमर्श होता है। कर्मचारी अपने–अपने विचार स्वतन्त्रापूर्वक प्रकट कर सकते हैं। अध्यक्ष केवल सलाह या सुझाव के रूप में हरतक्षेप करता है। उसका मुख्य कार्य कर्मचारियों का पथ–प्रदर्शन करना होता है। इस विधि का मुख्य उद्देश्य कर्मचारियों को परस्पर विचार–विमर्श द्वारा प्रशासकीय समस्याओं के सम्बन्ध में ज्ञान प्रदान करना तथा उनके समाधान के लिए प्रयास करना होता है। कर्मचारी एक दूसरे के विचारों से अपने ज्ञान में वृद्धि करते हैं। इन सम्मेलनों में कर्मचारियों को कई नए अनुभव होते हैं जिससे उनके दृष्टिकोण की व्यापकता बढ़ती है। इस विधि का प्रयोग उच्च अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए किया जाता है।

उपरोक्त वर्णित पद्धतियों में से किसी भी एक पद्धति का प्रयोग पदाधिकारियों को प्रशिक्षा प्रदान करने के लिए किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह जरूरी है कि प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षण देने वालों का ज्ञान अधिक होना चाहिए। उन्हें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार का ज्ञान होना चाहिए ताकि वे प्रशिक्षणार्थियों का मार्गदर्शन कर सकें। और उनकी समस्याओं का समाधान कर सकें।

भारत में उच्च लोक सेवाओं का प्रशिक्षण

भारत में उच्च लोक सेवाओं में प्रशिक्षण की व्यवस्था का निरन्तर विकास हो रहा है। भर्ती हेतु परीक्षाओं द्वारा उच्च लोक सेवा हेतु जो स्नातक चुने जाते हैं, उन्हें प्रशिक्षण हेतु प्रशिक्षण अकादमी में भेजा जाता है। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व केन्द्रीय और प्रान्तीय लोक सेवाओं हेतु प्रशिक्षण की कोई सुनियोजित तथा समन्वित व्यवस्था नहीं थी। कार्मिकों से यही आशा की जाती थी कि वे अनुभव द्वारा प्रशिक्षण ग्रहण कर लेंगे। परन्तु आई० सी० एस० (I.C.S) के प्रवेशार्थियों को एक वर्ष हेतु ऑक्सफोर्ड अथवा कैम्तिज विश्वविद्यालयों में भेज दिया जाता था, जहाँ उनको भारतीय इतिहास, सरकारी फौजदारी कानून एवं प्रक्रिया और भारतीय भाषाओं पर कुछ व्याख्यान दिये जाते थे। ,

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत सरकार ने लोक सेवाओं के गठन और प्रशिक्षण की ओर कुछ ध्यान दिया और इसके बाद समय–समय पर प्रशिक्षण हेतु प्रगतिशील कार्य होते रहे हैं। भारतीय लोक सेवाओं के प्रशिक्षण हेतु केन्द्र तथा राज्य स्तर पर अनेक प्रशिक्षण संस्थान सरकार द्वारा स्थापित किये जा चुके हैं। मार्च 1985 में भारत सरकार द्वारा कार्मिक, जन अभियोग एवम् पेंशन नामक नये मन्त्रालय की स्थापना की गयी है। इसका एक महत्वपूर्ण विभाग

कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग है। जनवरी 31, 1986 को भारत के प्रधान मन्त्री ने यह आदेश दिया कि देश के सभी आई.ए.एस. अधिकारियों को अनिवार्य रूप से प्रतिवर्ष कम से कम एक सप्ताह का प्रशिक्षण अवश्य दिया जाना चाहिए। अतः यह स्पष्ट होता जा रहा है, कि प्रशिक्षण के महत्त्व को स्वीकार किया जा रहा है।

प्रशिक्षण व्यवस्था को अच्छी प्रकार से समझने हेतु वहाँ भारतीय लोक सेवाओं में से कुछ के प्रशिक्षण को विस्तार से दिया जा रहा है।

1. भारतीय प्रशासनिक सेवा हेतु प्रशिक्षण व्यवस्थाः

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व आई० सी० एस० (I.C.S) के अधिकारी प्रशिक्षण हेतु इग्लैण्ड भेजे जाते थे। युद्ध के कारण जब ऐसा न हो सका तो देहरादून में एक प्रशिक्षण कैम्प खोला गया। सन 1947 में दिल्ली में आई ए.एस. (1.A.S) के अधिकारियों के प्रशिक्षण हेतु एक प्रशिक्षण स्कूल की स्थापना की गई। वर्तमान में प्रशिक्षण सर्वप्रथम ''लाल बहादुर शास्त्री एकेडमी मंसूरी में होता है। इसके बाद वह राज्यों में व्यावहारिक प्रशिक्षण या काम पर प्रशिक्षण हेतु चले जाते है। और अन्त मे उन्हें फिर से एकेडमी में प्रशिक्षण हेतु आना होता है।

सर्वप्रथम चार माह का आधारभूत पाठ्यक्रम एकेडमी मसूरी में पूरा करवाया जाता है। इसमें आई.ए.एस.. आई.पी.एस, आई एफ एस. आदि सभी प्रशिक्षाणार्थी साथ–साथ प्रशिक्षण करते हैं। उस पाठयक्रम में निम्नलिखित विषयों का ज्ञान कराया जाता है।

(1) लोक प्रशासन प्रबन्ध एवं व्यवहार विज्ञान,
(2) कानून,
(3) राजनीति के सिद्धान्त एवं भारत का संविधान,
(4) अर्थशास्त्र एवं पंचवर्षीय योजना,
(5) भारतीय इतिहास एवं संस्कृति,
(6) एवं हिन्दी

इसके पश्चात् आई. ए. एस. (I.A.S) के अतिरिक्त सेवाओं के प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण हेतु अपने सम्बन्धित संस्थानों को चले जाते हैं। आई ए. एस. (I.A.S) के प्रशिक्षणार्थी इसी एकेडमी में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। यहां इन्हें आधारभूत पाठ्यक्रम के उपरोक्त 6 विषयों के अलावा क्षेत्रीय भाषा का भी ज्ञान दिया जाता है। व्यावसायिक प्रशिक्षण के बाद इन्हें 12 माह अर्थात् एक वर्ष के लिए उनके संवर्ग (Cadre) के अनुसार राज्यों में भेज दिया जाता है। इस काल में इन्हें प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न अधिकारियों के पर्यवेक्षण में काम करने का मौका दिया जाता है। प्रशिक्षणार्थी एक पद से दूसरे पद पर थोड़े–थोड़े समय हेतु लगाये जाते हैं। इस प्रशिक्षण को कार्य पर प्रशिक्षण कहा जा सकता है। सभी प्रशिक्षणार्थियों को इस दौरान पर्यवेक्षण एवं मार्ग–दर्शन दिया जाता है। इसके पश्चात् एक माह के लिए भारत दर्शन हेतु भ्रमण पर ले जाया जाता है। पन्द्रह दिन का सिविल डिफेंस का प्रशिक्षण दिया जाता है तथा लगभग तीन सप्ताह सेना के साथ रखा जाता है। अन्त में वह फिर से 32 माह के प्रशिक्षण हेतु "लाल बहादुर एकेडमी, मसूरी" आते हैं। इस काल के प्रशिक्षण के माध्यम से ज्ञान एवं व्यवहार को मिलाकर देखा जाता है। यह समस्या समाधान का प्रयास होता है। प्रशिक्षणार्थी अपनी शंकाओं का समाधान करते हैं। इस प्रकार आई. ए एस के प्रशिक्षण की कुल अवधि लगभग ढाई वर्ष रखी गयी है। अन्त में संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा एक परीक्षा एकेडमी. मसूरी में ली जाती है। इस परीक्षा में सफलता प्राप्त करने पर ही नियुक्ति को स्थायी किया जाता है।

2. भारतीय पुलिस सेवा हेतु प्रशिक्षण व्यवस्थाः

भारतीय पुलिस सेवा के अधिकारियों को व्यावसायिक प्रशिक्षण "सरदार पटेल पुलिस एकेडमी'', हैदराबाद में दिया जाता है। यहां इन्हें विभिन्न विषयो जसै दण्ड विधि, दण्ड प्रक्रिया, भारतीय साक्ष्य अधिनियम, फौजदारी कानून दीवानी कानून, भारतीय संविधान आदि का ज्ञान करवाया जाता है। इराक अलावा विशष महत्त्व शारीरिक प्रशिक्षण

जैसे पी. टी ड्रिल क्तपसस तथा हथियार (अशस्त्र–शस्त्र) संबंधी प्रशिक्षण भी दिया जाता है। मोटर, घुडसवारी, ऊंट सवारी आदि का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। इन्हें सेना इकाइ में काम पर प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु भी भेजा जाता है। एकेडमी में उन्हें एक वर्ष हेतु काफी कठिन प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है तथा बाद में इन्हें जिलों में पुलिस प्रशासन का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने हेतु भेजा जाता है। जिलों में प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है तथा बाद में इन्हें जिलों में पुलिस प्रशासन का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने हेतु भेजा जाता है। जिलों में प्रशिक्षण प्राय एक वर्ष तक चलता है और प्रशिक्षणार्थी पुलिस विभाग के विभिन्न छोटे मोटे पदों पर कार्य करके व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करता है।

पुलिस एकेडमी में अब सिंडीकेट पद्धति तथा गोष्ठियों के माध्यम से प्रशिक्षण देने की शुरूआत कर दी गई है। कुछ नये विषयों जैसे अपराध तथा इस सम्बन्ध में कार्य करने का ढंग पुलिस और लोक प्रशासन, अपराधी मनोविज्ञान, जनता और प्रशासन, पुलिस कार्य में कम्पयूटर आदि। अब इन्हें अपराध विरोध, भीड़ को तितर–बितर करने, यातायात नियन्त्रण, तस्करों का सामना और आतंकवादी गतिविधियों से निपटने का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा है। इस प्रकार एकेडमी और जिले में विभिन्न पदों पर रह कर प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद अधिकारी स्थायी हो जाता है। आई. पी. एस. अधिकारी को प्रशिक्षण के बाद सहायक अधीक्षक के पद पर नियुक्त किया जाता है।

3. भारतीय विदेश सेवा हेतु प्रशिक्षण व्यवस्थाः

भारतीय विदेश सेवा के प्रवेशार्थी को लगभग 3 वर्ष के प्रशिक्षण कार्यक्रम से होकर गुजरना पड़ता है। इनके प्रशिक्षण की वर्तमान व्यवस्था निम्नलिखित हैः

4 महीने–आधारभूत प्रशिक्षण मसूरी प्रशिक्षण एकेडमी में दिया जाता है।
5 महीने–इंडियन स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज, नई दिल्ली में दिया जाता है।
6 महीने–राज्यों के जिलों में प्रशिक्षण होता है।
6–8 महीने–विदेश मन्त्रालय में प्रशिक्षण होता है।

इसके अलावा उन्हें कुछ समय हेतु सेना की इकाई के साथ रखा जाता है, तथा विदेशी भाषाओं में प्रशिक्षण का प्रबन्ध भी किया जाता है। इन्हें उन विषयों के ज्ञान पर भी प्रशिक्षण दिया जाता है, जिन्हें भारतीय विदेश सेवा के लिये आवश्यक समझा जाता है।

4. भारतीय आडिट और एकाउन्ट सेवा (I.A.A.S) हेतु प्रशिक्षण व्यवस्थाः

भारतीय लेखा–परीक्षण और लेखा–सेवा के परीवीक्षाधीनों को विभागीय प्रशिक्षण हेतु आई. ए. ए. एस. प्रशिक्षण एकेडमी, शिमला में एक वर्ष के संस्थागत प्रशिक्षण हेतु भेजा जाता है। यहां प्रशिक्षण उन्हीं विषयों में दिया जाता है, जिनका उनके काम से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के प्रमुख विषय हैं जैसे लागत लेखा, लेखा परीक्षण, लेखा संहिता, मौलिक नियम, सरकारी लेखा और लेखा परीक्षण के सिद्धान्त, आर्थिक सिद्धान्त और आर्थिक विकास, संसदीय वित्तीय नियन्त्रण और भारतीय वित्तीय व्यवस्था, भारतीय संविधान, वाणिज्यिक बही खाता, लागत और प्रबन्ध लेखा आदि। इसके अलावा परीवीक्षाधीनों को कार्य का व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक प्रशिक्षण देने हेतु विभिन्न महा–लेखा अधिकारी (A.G) के कार्यालय में योग्य, अनुभवी और वरिष्ठ अधिकारियों के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता है। इस प्रकार कार्यालयों में कार्य करते हुए वे प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं प्रशिक्षण के पश्चात् दो विभागीय परीक्षाएं उत्तीर्ण करनी होती हैं, जिसका आयोजन आई.ए.ए. एस प्रशिक्षण एकेडमी, शिमला में ही होता है। इसके बाद ही सहायक महा–लेखा अधिकारी (A.A.G) के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है।

1. भारतीय आयकर सेवा हेतु प्रशिक्षण व्यवस्थाः

इस सेवा के अधिकारियों का विभागीय संस्थागत प्रशिक्षण केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर प्रशिक्षण एकेडमी, नागपुर में 18 माह का होता है। इस प्रशिक्षण काल में उन्हें आयकर अधिनियम, भारतीय वित्त व्यवस्था, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर, आयकर कानून आदि विषयो का ज्ञान कराया जाता है, जो उनके कार्य से सम्बन्धित होते हैं।

6. भारतीय डाक सेवा हेतु प्रशिक्षण व्यवस्थाः

इस सेवा के अधिकारियों का प्रशिक्षण लगभग दो वर्ष का होता है, जिसमें से चार माह का प्रशिक्षण डाक सेवाओं के संचालन से सम्बन्धित पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ ट्रेनिंग सेन्टर, सहारनपुर में तथा 16 माह का व्यावहारिका एवं प्रयोगात्मक प्रशिक्षण विभिन्न अधीनस्थ पदों पर कार्य करा के दिया जाता है।

7. भारतीय रेलवे सेवा हेतु प्रशिक्षण व्यवस्थाः

इस सेवा के अधिकारियों के प्रशिक्षण हेतु रेलवे प्रशासन ने बड़ौदा में प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना की है। यहां अधिकारियों को यातायात, परिवहन आदि के नियमों एवं अन्य व्यावहारिक बातों का प्रशिक्षण दिया जाता है।

8. केन्द्रीय सचिवालय सेवा हेतु प्रशिक्षण व्यवस्थाः

भारत में केन्द्रीय सचिवालय सेवा के अधिकारियों के प्रशिक्षण हेतु सरकार ने नई दिल्ली में सन 1948 में सेक्रेटेरियट प्रशिक्षण विद्यालय (Secretariat Training School) की स्थापना की थी। यहां अनुभाग अधिकारी (Section Officer) सहायक (ASSIS rant) तथा लिपिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इसके अलावा इस विद्यालय में केन्द्रीय सचिवालय के अधिकारियों हेतु कई प्रकार के नवीनीकरण पाठ्यक्रम की भी व्यवस्था की जाती है। यहां प्रशिक्षण के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

प्रशिक्षण विधियां (तरीके)

प्रशिक्षण कार्यक्रम की सफलता उसे प्रदान करने की विधि (तरीके) पर बहुत निर्भर करती है। किसी संगठन में प्रशिक्षण निम्नलिखित विधि से दिया जा सकता है। इनमें से कौन सा तरीका कहां. कब अपनाया जाये यह तो संगठन अपने साधन एव आवश्यकताओं के अनुसार करता है। प्रमुखतः प्रशिक्षण विधियां निम्नलिखित हैंः

1. **व्याख्यानः** प्रारम्भ से ही प्रशिक्षण की प्रमुख विधि व्याख्यान रहा है। 25–30 लोगों को एक प्रशिक्षक आसानी से इस माध्यम से प्रशिक्षण दे सकता है। विभिन्न विषयों पर प्रशिक्षक कक्षा में व्याख्यान देता है, जिससे लोक सेवक विषय ज्ञान प्राप्त करते हैं।
2. **निर्देशित समोलनः** यह विधि विश्वविद्यालयों की गोष्ठी (Discussion Class) जैसी होती है। यहाँ प्रशिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही विचारों का आदान–प्रदान कर सकते हैं।
3. **सिडिकेट पद्धतिः** इस विधि में कक्षा (क्लास) को छोटे–छोटे (5–8) सदस्य दलों में विभाजित कर दिया जाता है। हर दल का एक अध्यक्ष होता है, जो अपने दल के साथ विचार विमर्श करके विषय समस्या पर प्रतिवेदन (रिपोर्ट) प्रस्तुत करता है। फिर सारी क्लास के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। अब अन्य सदस्य आपत्ति उठाते है, तो सिंडीकेट के सदस्य अपने पक्ष का बचाव करते हैं।
4. केस पद्धतिः यह विधि (पद्धति) हार्बड बिजिनेस द्वारा विकसित की गई है और अनेक संगठन में अन्न प्रशिक्षण के लिए इसका उपयोग किया जाने लगा है। इनमें किसी निर्णय की प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है। पद्धति से प्रशिक्षार्थी प्रशासन की वास्तविक समस्याओं के अधिक नजदीक आ जाता है।
5. काम करके सीखने की विधिः यह व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक प्रशिक्षण विधि है। इसमें नये कार्मिकों का अनुभवी लोक सेवकों के अधीन काम करने को भेजा जाता है। काम करके नये अधिकारी वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते हैं। भारत तै ब्रिटिश काल में इस विधि का प्रारम्भ नये आई, सी, एस. (I.C.S) के अधिकारियों हेतु किया गया था। वर्तमान में भी प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक हेतु यह विधि कार्यरत है।

6. अन्य विधियाँः इन विधियों के अलावा प्रशैक्षणिक भ्रमण, ग्राम भ्रमण, सिनेमा अनुभवी प्रशिक्षकों की देखरेख में स्वाधयाम आदि भी वर्तमान में प्रशिक्षण के साधन हैं।

भारत में लोक सेवाओं में प्रशिक्षण देने हेतु उपरोक्त कोई भी विधि अपनाई जाती है। एक ही प्रशिक्षण पाठ्यक्रम कोर्स ..... प्रकार के प्रशिक्षण के साधनों का उपयोग किया जा सकता है। नये लोक सेवकों हेतु साधारणतः व्याख्यान विधि उपयोग हैं किन्तु ऐसे अधिकारी जो 15–20 वर्ष सेवा में रह चुके हैं, उनके लिए अन्य विधियाँ जैसे सम्मेलन, गोष्ठी, सिंडीकेट पद्धति ज्यादा उपयोगी हो सकती है। प्रशिक्षण विधि कोई भी हो लोक सेवकों को ऐसा प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये कि यह अपने उत्तरदायित्वों और कार्यों को उचित रूप से सम्पन्न कर सकें। भारतीय लोक सेवाओं के प्रशिक्षण में सभी विधियों के उपयोग का प्रयास किया जा रहा है। प्रायः सैंडविच कोर्स के दौरान आधारभूत पाठ्यक्रम भाषण तथा विचार विमर्श पद्धति से राज्यों में काम द्वारा सीखने एवं पुनः एकेडमी से समूह विचार विमर्श (ग्रुप डिसक्शन) पर अधिक बल दिया जाता है। रिफशर्स कोर्स तो पूरी तरह विचार–विमर्श पर आधारित रहता है।

भारतीय प्रशिक्षण व्यवस्था के दोषः

वर्तमान में भारतीय प्रशिक्षण व्यवस्था की अनेक प्रशासनिक समस्याएं एवं दोष हैं। कुछ प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं

1. योग्य तथा क्षमतावाले प्रशिक्षकों का अभाव है, जो संगठन के कार्मिकों को ज्ञान देने के साथ–साथ उनकी व्यावहारिक समस्याओं में भी रूचि ले सकें।
2. प्रशिक्षण औपचारिक तथा संस्थागत अधिक होता है।
3. प्रशिक्षण के समय की समस्या भी उल्लेखनीय हैं। अधिक लम्बे समय तक दिए जाने वाले प्रशिक्षण का भार कोई भी संगठन नहीं कर सकता। कम समय में दिया गया प्रशिक्षण प्रायः प्रभावहीन रहता है। क्योंकि ऐसा प्रशिक्षण केवल पचारिकता तक ही सीमित रहता है।
4. रिफ्रेंशर पाठय्कम की संख्या एवं क्रम इतना कम तथा सीमित होता है कि लोक सेवक प्रशारान एवं नियोजन की आधुनिक तकनीकों से अपरिचित रह जाते हैं।
5. आधुनिक प्रशिक्षण में ज्ञान के नवीनीकरण को कम अवरार दिया जाता है।
6. वर्तमान में सैद्धान्तिक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाता है।
7. जिन लोक सेवकों को प्रशिक्षण केन्द्रों में भेजा जाता है, उनमें से अधिकांश की भावना यह होती हैं कि सरकार ने भेजा है तो कोर्स को पूरा कर लें। उन्हें स्वतः प्रशिक्षण की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। अतः वे लोग प्रशिक्षण कार्यक्रमों में गग्गीर होकर ध्यान नहीं देते हैं। प्रशिक्षण तभी प्रभावी हो सकता है जब प्रशिक्षार्थी इसकी आवश्यकता को समझें।
8. प्रशिक्षण कार्यक्रम की सफलता को आंकने के लिए कोई शोध नहीं किया जाता है। प्रायः यह माना जाता है कि व्यवहार में प्रशिक्षित एवं अप्रशिक्षित व्यक्ति के मध्य प्रशासकीय कुशलता की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है। इसी कारण प्रशिक्षण अरूचिपूर्ण हो जाता है।

सुझावः

भारत में लोक सेवकों हेतु प्रशिक्षण आवश्यक एवं लाभकारी है। प्रशिक्षण व्यवस्था में कुछ समस्याएं एवं दोष हैं, जिन्हें दूर करना जरूरी है। अतः प्रशिक्षण व्यवस्था को सृदृढ़ एवं उपयोगी करने हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैंः

1. भारत में प्रशिक्षण हेतु एक दीर्घकालीन नीति तथा योजना बनायी जानी चाहिये जिससे आवश्यकतानुसार संस्थान, केन्द्रीय सामग्री तथा कार्यक्रम तैयार किये जा सकें।

2 प्रत्येक मन्त्रालय/विभाग में एक मुख्य प्रशिक्षण अधिकारी रखा जाये जो विभागों में प्रशिक्षण कार्यों का समन्वय करे।

3. प्रशिक्षक वे लोग ही बनाये जाये जो प्रशासकीय कुशलता के धनी रहें हो और स्वयं प्रशिक्षक बनने की इच्छा रखें। प्रशिक्षक तैयार करने के विशेष प्रयास किये जायें।

4. प्रशिक्षण सामग्री तैयार एवं विकसित करने पर विशेष बल दिया जाये।

5. प्रशिक्षण में लोक सेवकों की रूचि विकसित करने हेतु आवश्यक है कि प्रशिक्षित व्यक्तियों को यही पद दिए जाएं जहां प्रशिक्षण काम आ सके और साथ ही पदोन्नति आदि हेतु प्रशिक्षण आवश्यक कर दिया जायें।

6. प्रशिक्षण व्यावहारिक होना चाहिये। योग्य और अनुभवी जिलाधीशों अधिकारियों की देख–रेख में प्रशिक्षणार्थी को प्रशिक्षण दिया जाए।

7. प्रशिक्षार्थी को घटना कार्य (Case Work) भी करना चाहिये, जिससे कि वह कानून आदि विषयों से अधिक निकटता प्राप्त कर सकें।

8. प्रशिक्षणार्थी के दृष्टिकोण एवं ज्ञान को व्यापक बनाने हेतु विषयों का यथेष्ट ज्ञान कराया जाना चाहिये।

9. स्थानीय प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

पदोन्नति
Promotion

पदाधिकारी प्रशासन की सबसे आकर्षक एवं महत्वपूर्ण समस्या पदोन्नति है। किसी भी प्रशासकीय संगठन, में कार्यकुशलता, बनाये रखने के लिए उसके पदाधिकारियों को कुछ प्रेरणा प्रदान करना आवश्यक है ताकि वे उत्साहित होकर सत्यता तथा कुशलता से अपने कर्तव्य का पालन करें। पदाधिकारियों के लिए पदोन्नति से बढ़कर और कोई प्रेरणा नहीं है। पदोन्नति से अभिप्राय निम्न पद से उच्च पद अथवा उत्तरदायित्व की ओर जाने में हैं। एल० डी० हाइट (L.D. White) के शब्दों में, पदोन्नति का अर्थ यह है कि वर्तमान स्थिति में अधिक कठिन कार्य तथा अधिक उत्तरदायित्व वाले पद पर नियुक्ति जिसके साथ पदाशीर्ष (Title) में परिवर्तन तथा प्रायः वेतन में वृद्धि होती है। यद्यपि स्थानान्तरण द्वारा भी प्रत्येक अधिकारी की दशा में परिवर्तन होता है, परन्तु इसे पदोन्नति नहीं कहा जा सकता है। स्थानान्तरण द्वारा केवल एक पदाधिकारी के कार्य करने के स्थान में परिवर्तन होता है, परन्तु उसके पद तथा स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार पदोन्नति तथा वेतन वृद्धि को समान वेतनक्रम (Grade) के अन्तर्गत प्रतिवर्ष कुछ निश्चित नियमों के अनुसार वृद्धि होती है, परन्तु यह पदोन्नति नहीं है। किसी पदाधिकारी के वेतन में वृद्धि हुए बिना उस की पदोन्नति हो सकती है। पदोन्नति के पदाधिकारी की योग्यता (Qualification) में वृद्धि से भी कोई सम्बन्ध नहीं। विभिन्न प्रकार की सेवाओं एवं पदों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा योग्यता निश्चित की जाती है और भारत में क्लर्क, सहायक (Assistant), राज्य सेवाओं (P.C.S) तथा केन्द्रीय उच्च सेवाओं (I.A.S., LE.S - L.P.S. etc.) में भर्ती होने के लिए स्नातक (Graduate) होना आवश्यक है। परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि कर्तव्यों, उत्तरदायित्व तथा वेतनक्रम में परिवर्तन होना पदोन्नति के अनिवार्य लक्षण हैं। डॉ० त्यागी (Dr. Tyagi) के शब्दों में, ''पदोन्नति से तात्पर्य अधिक उत्तरदायित्व, उच्च पद तथा प्रसंगवश (Incidentally) यद्यपि मौलिक रूप में नहीं, उच्च वेतनक्रम से है।''

महत्त्व (Importance) :– पदोन्नति का मुख्य उद्देश्य पदाधिकारियों की कुशलता तथा आचरण में वृद्धि करना है। पदोन्नति के अभाव का पदाधिकारियों पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। प्रोक्टर आर्थर डब्ल्यू० (Arthur W. Procter) के मतानुसार, "पदोन्नति की समुचित व्यवस्था की अनुपस्थिति का प्रशासन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। कर्मचारियों की भर्ती पर इसका निराशाजनक प्रभाव होता है। कुशल तथा इच्छुक कर्मचारियों के लोकसेवाओं में प्रवेश करने का अवरोध करता है। इसी प्रकार व्हाइट (White) ने भी कहा है, ''बुरी तरह नियोजित पदोन्नति पद्धति एक संगठन को अयोग्य कर्मचारियों के पद में वृद्धि करके ही नहीं, परन्तु सभी कर्मचारियों के नैतिक स्तर में गिरावट करके हानि

करती है। पदोन्नति में असफल हो जाने से कर्मचारियों में सन्तुष्टता, प्रोत्साहन तथा आचरण का अभाव हो जाता है।''

अच्छी पदोन्नति पद्धति द्वारा कर्मचारियों तथा प्रबंधक वर्ग दोनों को विशेष लाभ होता है। यदि कर्मचारियों के पद तथा उत्तरदायित्व में वृद्धि होती है तो इसके द्वारा प्रबन्धक वर्ग उच्च पद के लिए सुयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति कर सकता है। आर्थर प्रोक्टर (Arthur Procter) के मतानुसार, "पदोन्नति का प्रत्यक्ष महत्त्व प्रबन्धक वर्ग के लिए है क्योंकि इसके द्वारा कर्मचारियों को पुरस्कार दिए जाते है तथा यह उनके लिए कार्य की प्रेरणा बना रखती है। इसकी प्रतिक्रिया प्रशासन के लगभग सभी पहलुओं पर होती है। कर्मचारी पदोन्नति से सन्तुष्ट, स्थिर तथा कुशल रहते हैं।''

पदोन्नति के आधार
(Basis of Promotion)

साधारणतया पदोन्नति के दो सिद्धान्तो–ज्येष्ठा (Seniority) एवं योग्यता (Merit) पर आधारित है। इन दोनों सिद्धान्तों के सम्बन्धो में प्रायः यह प्रश्न उठता है कि एक पदोन्नति ज्येष्ठता के आधार पर की जाए या योग्यता के आधार पर इस बात का निर्णय करने के लिए दोनों सिद्धान्तों के गुण तथा ..... अध्ययन करना जरूरी है।

ज्येष्ठता का सिद्धान्त
(Principle of Seniority)

ज्येष्टता सिद्धान्त के अनुसार पदोन्नति ज्येष्ठता के आधार पर की जाती है। इससे अभिप्रायः यह है कि जिस कर्मचारी का अपने वर्ग के कर्मचारियों में सबसे अधिक सेवा काल होगा उसी का पदोन्नति करना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि कोई हैड क्लर्क का स्थान ..... होता है तो उसी क्लर्क को पदोन्नति करना चाहिए जिसका सेवाकाल अपने वर्ग के सभी क्लर्कों में से सबसे अधिक ..... इस सिद्धांत को प्रायः पदोन्नति का आधार माना जाता है और लगभग सभी देशों में अधिकांश पदो को इस सिद्धान्त के आधार पर निम्न वर्ग के कर्मचारियों को पदोन्नत करके भरा जाता है। इसके कई लाभ हैं जिसका विवरण निम्न प्रकार है।

1. इस प्रणाली का प्रथम लाभ यह है कि इसमें पदोन्नति तटस्थता तथा निष्पक्षता के आधार पर बिना किसी राजनीतिक हस्तक्षेप तथा पक्षपात से की जाती है। मेयरज (Mayers) के अनुसार, ''इस पद्धति में पदोन्नति के लिए आन्तरिक झगडे समाप्त हो जाते है और जिन व्यक्तियों के हाथ में पदोन्नत करने की शक्ति होती है, उन पर राजनैतिक अथवा अन्य कोई बाहरी दबाव नहीं पड़ता।''
2. यह प्रणाली अनुभव पर आधारित है। इसके अन्तर्गत केवल उसी व्यक्ति को पदोन्नत किया जाता है जिसका अनुभव अधिक हो। इससे प्रशासन की कुशलता में वृद्धि होती है।
3. इस विधि द्वारा सभी कर्मचारी सन्तुष्ट रहते हैं क्योंकि पदोन्नति न्याय के आधार पर क्रमिक रूप में बिना किसी पक्षपात के होती है।
4. इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर्मचारी को पदोन्नति के अवसर प्राप्त होते हैं जिससे उनका मनोबल उच्च रहता है। वे अपने कार्य को लगन से करते हैं और सदैव यह आशा करते रहते हैं कि समय आने पर उन्हें पदोन्नति दी जाएगी।
5. इस प्रणाली में नवयुवक ..... ढंग से सरकारी सेवा में प्रवेश नहीं कर सकते जिसके परिणामस्वरूप कर्मचारियों में कम से कम यह सन्तोष बना रहता है कि जिस अधिकारी के अधीन वे काम करते हैं, वह उनसे योग्यता तथा अनुभव में श्रेष्ठ है।
6. इससे सेवाओं में स्थायीत्व (Stability) बनी रहती है क्योकि इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मचारियों को यह निश्चय होता है कि अवसर आने पर उनको पदोन्नति अवश्य दी जाएगी। इसलिए वे सेवा को नहीं छोडते तथा इसे जीवनोपार्जन के रूप में अपनाते है।

7. यह सिद्धान्त वास्तविकता पर निर्भर है। ज्येष्ठता निश्चित करने में कोई कठिनाई नहीं होती। वास्तव में वह पहले से ही निर्धारित होती है। इसलिए यह सिद्धान्त सबके लिए मान्यता होता है।

8. यह सिद्धान्त स्वाभाविक है और व्यक्तियों के पारस्परिक अनावश्यक एवं अनुचित गतिरोध को समाप्त करता है। नवयुवक कर्मचारियों को अनुभवी व्यक्तियों से ऊपर नहीं बैठाता। यह पक्षपात तथा राजनीतिक प्रभाव एवं हस्तक्षेप के विरुद्ध एक रोक है। यह सिद्धान्त इतना स्पष्ट, सरल तथा वस्तुगत (Objective) है कि इसके कारण कर्मचारियों में परस्पर ईर्ष्या या नाराजगी नहीं रहती। वे सदैव इसे अच्छा समझते हैं।

ज्येष्ठता के सिद्धान्त के दोष
(Defects of Seniority Principles)

इस सिद्धान्त के जहां पर बहुत से लाभ हैं, वहां पर इसमें बहुत से दोष भी हैं। इसके मुख्य दोष निम्न प्रकार हैं

1. इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि ज्येष्ठता के आधार पर पदोन्नति वाला व्यक्ति अवश्य ही योग्य होगा। यह सम्भव है कि एक अयोग्य व्यक्ति ज्येष्ठता के आधार पर पदवृद्धि पा कर विभाग का उच्च अधिकारी बन जाए। इससे अधीनस्थ अधिकारियों में निराशा उत्पन्न होगी जिसके परिणामस्वरूप प्रशासन में अकुशलता उत्पन्न होगी।
2. इस सिद्धान्त की यह मान्यता कि सभी अधिकारी पदोन्नति के योग्य हैं, ठीक नहीं है।
3. यह सिद्धान्त इस बात का आश्वासन नहीं देता कि प्रत्येक कर्मचारी पदोन्नति द्वारा उच्च पद को प्राप्त कर सकता है तथा उपर्युक्त समय के लिए इस पद पर रह सकता है। वास्तव में ज्यों–ज्यों हम ऊपर जाते हैं, पदों की संख्या कम होती जाती है। ऐसी दशा में सभी कर्मचारी पदोन्नति पा सकते हैं और न ही सभी कर्मचारी पदोन्नति के योग्य होते हैं। गलेडन (Gladen) के अनुसार इसमें यह मान लिया जाता है कि रिक्त स्थान काफी अधिक मात्रा में उत्पन्न होते है, परन्तु व्यवहार में ऐसी आदर्श दशाओं का पाया जाना पूर्णतया एक अनहोनी सी बात होती है। एक पदक्रम के सभी व्यक्ति पदोन्नति के लिए उपर्युक्त नहीं होते, पदोन्नतियां सामान्यतः थोड़ी होती हैं।
4. इस सिद्धात में यह माना जाता है कि ज्येष्ठता सूची न्यायिक रूप में कर्मचारी वर्ग की आयु के अनुसार ही इस प्रकार क्रमबद्ध की जाती है, जिससे कि क्रमानुसार प्रत्येक व्यक्ति उस उच्च पद पर सेवा करने का अवसर प्राप्त कर सकेगा, परन्तु यह ठीक नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को आय के अनुसार पदोन्नति प्रदान नहीं की जा सकती। पदोन्नति रिक्त स्थानो की संख्या पर निर्भर होती है और इसे क्रमानुसार प्रदान किया जाता है।
5. जब कर्मचारियों को पहले ही पता होता है कि उन्हें सेवाकाल के आधार पर पदोन्नति मिल ही जानी है तो वे उत्साह तथा लगन से कार्य नहीं करते। इससे प्रशासन में अकुशलता उत्पन्न होती है तथा कर्मचारियों में आत्मविश्वास, प्रगतिशील दृष्टिकोण, साहस तथा दायित्व की भावना का विकास नहीं होता। इसके साथ ही वे कर्मचारी जिन्हें पदोन्नति का अवसर प्राप्त होने की सम्भावना नहीं होती, उत्साहहीन तथा निराश हो जाते हैं। अतः यह सिद्धान्त दोनों प्रकार के कर्मचारिया के लिए हानिकारक है।
6. इस सिद्धान्त के अनुसार योग्य व्यक्तियों की परख नहीं की जा सकती। इनमें परिश्रमी तथा आलसी कर्मचारियों को समान समझा जाता है।
7. यह सिद्धान्त इसलिए भी खतरनाक है क्योंकि इनके अनुसार कुछ पदों पर ऐसे अयोग्य तथा असमर्थ कर्मचारियों की नियुक्ति हो जाती है जो उन पदों के दायित्वों को निभा नहीं सकते। फिनर (Pfiffner) के अनुसार, ''ज्येष्ठता के सिद्धान्त के अनुसार पदोन्नति देने का परिणाम यह होगा कि कुछ निरीक्षीय तथा निर्देशीय पदों पर कैन्क विचारों वाले व्यक्तियों को पदोन्नत किया जाएगा ।.....ज्येष्ठता के आधार पर उच्च पदों पर अयोग्य व्यक्तियों द्वारा भी भरा जाएगा। इससे कर्मचारियों की महत्वकांक्षा नष्ट हो जाएगी और वे प्रेरणा समाप्त हो जाएंगी जिनके द्वारा कर्मचारियों में व्यक्तित्व, साहस, आत्मनिर्भरता तथा प्रगतिशील

दृष्टिकोण का विकास होता है। इससे कर्मचारियों में आत्म–सन्तुष्टि तथा उदासीनता के साथ कार्य को सम्पन्न करने की भावना उत्पन्न हो जाएगी।''

8. इस सिद्धान्त के अनुसार योग्य व्यक्तियों को पदोन्नति प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता। विशेषकर उन नवयुवक कर्मचारियों को जो ज्येष्ठ कर्मचारियों की तुलना में अधिक योग्यता प्राप्त (Qualified) तथा कुशल होते हैं।

9. इस सिद्धान्त का समर्थन उन्हीं लोगों द्वारा किया जाता है जो प्रतिभाशाली नहीं होते तथा जो विश्वविद्यालयों से आने वाले विद्यार्थियों से मुकाबला करने से घबराते हैं।

10. यह सिद्धान्त लोकतंत्र के सिद्धांत के विरूद्ध है। इसमें सभी व्यक्तियों को पदोन्नति प्राप्त करने का अवसर नहीं मिलता।

11. यह सिद्धान्त रूढिवादिता को जन्म देता है। ज्येष्ठता के आधार पर पदोन्नति पाने वाले व्यक्ति प्राय रूढिवादी, चिडचिडे तथा विचित्र स्वभाव के होते हैं। वे नवीन परिवर्तन तथा वैज्ञानिक प्रगति, सामाजिक एवं राजनीतिक आवश्यकताओं का स्वागत नहीं करते। वे सदैव लकीर के फकीर रहते हैं। इससे प्रशासन में नवीन वैज्ञानिक तरीकों को नहीं अपनाया जा सकता तथा इसमें लाल फीताशाही जैसे दोष विद्यमान रहते हैं।

12. यह सिद्धान्त रूढ़िवादिता के कारण निर्विरोध रूप में उस राष्ट्र के लिए तो बहुत ही हानिकारक है जिसने जनकल्याण के आदर्श को अपना कर कल्याणकारी राज्य का रूप धारण किया हो।

निष्कर्ष (Conclusion) – ज्येष्ठता के सिद्धान्त के लाभों तथा दोषों के विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि केवल ज्येष्ठता को ही पदोन्नति का आधार नहीं मानना चाहिए। इस सिद्धान्त को केवल निम्न पदों पर लागू किया जा सकता है। उच्च पदों पर पदोन्नति करते समय हमें योग्यता को प्राथमिकता देनी चाहिए।

योग्यता का सिद्धान्त
(Principle of Merit)

ज्येष्ठता की तुलना में पदोन्नति का दूसरा सिद्धांत है। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मचारियों को उनकी योग्यता तथा प्राप्तियों (Achievements) के आधार पर पदोन्नत करना चाहिए। योग्यता का अभिप्रायः एक कर्मचारी की शिक्षा, मानसिक स्थिति, लोक प्रशासन के तत्व व्यक्तित्व, आचरण तथा नेतृत्व करने की क्षमता से है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि कर्मचारी की योग्यता किस प्रकार देखी जाए। साधारणतया योग्यता को निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जा सकता है

1. विभागीय अध्यक्ष द्वारा निर्णय (Personal Indgement of the Head of Department)
2. पदोन्नति परीक्षा।
3. सेवा अंकन (Service Rating)

विभागीय अध्यक्ष द्वारा निर्णय

Personal Judgement of the Head of Department

इस विधि के अनुसार कर्मचारी की योग्यता की जांच के सम्बन्ध में निर्णय करने की शक्ति विभागीय अध्यक्ष को सौंप देनी चाहिए। इस धारणा का आधार यह है कि विभागीय अध्यक्ष का अधीन कर्मचारियों से अधिक–से–अधिक सम्पर्क रहता है जिसके कारण वह उनकी योग्यता, नैतिकता, साहस, चरित्र, कर्तव्यपरायणता कार्य करने की क्षमता आदि के बारे में भली–भान्ति जान सकता है। इसके अतिरिक्त क्योंकि विभागीय अध्यक्ष का

कर्मचारी का अनुशासन सम्बन्धी चेतावनी कितनी बार मिल चुकी है अथवा उसे कितनी बार दण्ड दिया जा चुका है। इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह अत्यन्त सरल विधि है । इसके द्वारा उच्च अधिकारी अपने अधीन कर्मचारियों पर नियंत्रण रख सकते हैं। इस प्रणाली के अधीन कर्मचारियों को पदोन्नति देने में कम समय लगता है और निर्णय शीघ्र हो जाता है।

परन्तु इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं

1. यह सिद्धान्त छोटे संगठनों के लिए उपयोगी है जहां पर विभागीय अध्यक्ष का अपने अधीन कर्मचारियों से प्रत्यक्ष रूप से सम्पर्क होता है। परन्तु बड़े संगठनों के लिए यह उपयोगी नहीं है। बड़े संगठनों अथवा लोक प्रशासन जैसे व्यापक संगठनों में यह सम्भव नहीं है कि विभागीय अध्यक्ष विभाग के सभी कर्मचारियों से सम्पर्क स्थापित कर सके। एक तो कर्मचारियों की इतनी संख्या होती है कि एक व्यक्ति के लिए सभी को जानना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। दूसरे सभी कर्मचारियों की कार्यक्षमता तथा अन्य योग्यताओं का एक व्यक्ति द्वारा सही प्रकार से मूल्यांकन करना सरल नहीं है।
2. दूसरे यह प्रणाली बहुत ही आत्मपरक (Subjective) है तथा इसमें पक्षपात तथा व्यक्तिगत पसन्द अथवा नापसन्द आदि त्रुटियां पाई जाती है। इस प्रणाली में कर्मचारी के सम्बन्ध में विभागीय अध्यक्ष की मान्यताएं व्यक्तिगत सम्बन्धों एवं सम्पर्क पर निर्भर करती हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि योग्य कर्मचारी जो आत्मसम्मान के कारण अनुचित ढंग से अपने उच्च अधिकारियों की चापलूसी नहीं करते, वे सदैव पीछे रह जाते हैं और अनुचित ढंग से खुशामद करने वाले कर्मचारी आगे बढ़ जाते हैं। विभागीय अध्यक्ष खुशामदी कर्मचारियों की त्रुटियों की ओर ध्यान नहीं देते बल्कि उनकी रक्षा करते हैं। परन्तु दूसरे कर्मचारियों की छोटी–छोटी भूलों पर दण्ड नहीं देते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में राजनीतिक व अन्य प्रभावों का भी प्रभाव होता है।

दोषों को कैसे दूर किया जाए?
(How to remove these Defects?)

इस सिद्धान्त में विद्यमान दोषों को दूर करने के लिए कुछ सुझाव इस प्रकार दिए जाते हैं

(क) मेयर (Mayers) के अनुसार पदोन्नति का प्रश्न विभागीय अध्यक्ष के व्यक्तिगत निर्णय के स्थान पर एक निश्चित विभागीय पदोन्नति बोर्ड (Departmental Promotion Board) द्वारा करना चाहिए। उसके शब्दों में, "प्रत्येक सेवा ब्यूरो या अन्य संगठन की इकाई में प्रशासकीय अधिकारियों की एक समिति होनी चाहिए जिस पदोन्नति से सम्बन्धित सभी सिफारशें करने का उत्तरदायित्व होना चाहिए। इस समिति को पदोन्नत होने वाले सभी कर्मचारियों के चरित्र, कार्यक्षमता, पदोन्नत की योग्यताएं आदि के सम्बन्ध में पूर्ण सूचना प्रदान करने की व्यवस्था होनी चाहिए।''

(ख) यदि कोई कर्मचारी इस बोर्ड के निर्णय से संतुष्ट न हो तो उसे अपील करने का अधिकार होना चाहिए। इस बोर्ड में विभाग के मुख्य अधिकारी सम्मिलित किए जाने चाहिए। ऐसे अधिकारियों को बोर्ड में मनोनीत करते समय उनकी ज्येष्ठता तथा अन्य कार्यो एवं योग्यताओं को ध्यान में रखना चाहिए। चाहे विलोबी (Willoughby) इस सुझाव से सहमत नहीं हैं।

परन्तु इस प्रणाली में कई उपयोगी बातें पाई जाती हैं। उस में काफी सीमा तक राजनीतिक तथा अन्य प्रभावों से मुक्ति पाई जा सकती है।

इसलिए इस पद्धति को बहुत से देशों में अपनाया गया है तथा पदोन्नति के लिए ऐसे बोर्डो की स्थापना की गई है जो इस लोक सेवा आयोगों के परामर्श से की जाती हैं। के सम्बन्ध में विभागीय अध्यक्ष को परामर्श देते हैं।

इसीलिए भारत में केन्द्र तथा राज्य स्तर पर उच्च पदों के लिए पदोन्नतियां लोक सेवा आयोंगों के परामर्श से की जाती है।

पदोन्नति परीक्षा
(Promotion Examination)

कर्मचारियों की योग्यता की जांच करने के लिए परीक्षा को उपयोगी माना जाता है। भर्ती करते समय तो इसे एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में अपनाया जाता है। इसी प्रकार कर्मचारियों की योग्यता एवं कार्य क्षमता की जांच करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है तथा इसे वस्तुआत्मक विधि समझा जाता है। पदोन्नति से सम्बन्धित परीक्षाएं तीन प्रकार की होती है

(क) **खुली प्रतियोगिता (Open Competition)** – खुली प्रतियोगिता परीक्षा में कोई भी व्यक्ति भाग ले सकता है। दूसरे शब्दों में जब पदोन्नति की परीक्षा में विभागीय कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति भाग ले सकता हो तो उसे खुली प्रतियोगिता परीक्षा कहते हैं। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि परीक्षा में कवेल विभाग के कर्मचारी ही भाग लें। इस पद्धति के पक्ष में यह कहा जाता है कि (1) इसके द्वारा उच्च पदों के लिए चुनाव करने का क्षेत्र व्यापक बन जाता है और वर्तमान कर्मचारियों का हित भी विक्षिप्त नहीं होता। उन्हें योग्य व्यक्ति के अधीन काम करने का अवसर मिलता है। (2) इस पद्धति के अन्तर्गत नए रक्त के सेवाओं में प्रवेश करने के कारण उनके प्रगतिशील विचारों का वर्तमान कर्मचारियों तथा प्रशासन पर प्रभाव पड़ता है। (3) इन लाभों के अतिरिक्त इन पद्धति का एक विशेष लाभ यह है कि खुली प्रतियोगिता द्वारा वर्तमान कर्मचारियों को अपनी योगयताओं एवं मानसिक क्षेत्र व्यापक बनाने का अवसर मिलता है। परन्तु इस प्रणाली की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि इसके द्वारा वर्तमान कर्मचारियों के मनोबल पर दुष्ट प्रभाव पड़ता है क्योंकि बाहर से नए कर्मचारियों को पुराने कर्मचारियों के उच्च पदों पर नियुक्त किए जाने से पुराने कर्मचारियों में घृणा तथा द्वेष की भावना उत्पन्न हो जाती है।

(ख) **सीमित प्रतियोगिता (Limited Competition)** – इस प्रणाली के अन्तर्गत केवल उन कर्मचारियों को प्रतियोगिता परीक्षा में बैठने की अनुमति होती है जो पहले ही सेवा में होते हैं। इस प्रणाली के अनुसार बाहर से किसी भी व्यक्ति को पदोन्नति का अवसर प्रदान नहीं किया जाता। इस प्रणाली का भारत में निम्न पदों के लिए पदोन्नत करने के लिए प्रयोग किए जाता है। केन्द्रीय सरकार इस का प्रयोग सैक्सन अधिकारी, सहायक आदि के पदों के लिए पदोन्नति करने के लिए इस विधि का प्रयोग करती है। इस प्रणाली से कर्मचारी प्रसन्न रहते हैं क्योंकि यह उनके हितों के अनुकूल है तथा इस से उन्हें इस बात का संतोष रहता है कि पदोन्नति उन्हीं में से की जाएगी। परन्तु यह सिद्धान्त सार्वजनिक तथा योग्यता सम्बन्धी सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

(ग) **उत्तीर्ण परीक्षाएं (Pass Examination)** – पदोन्नति के सम्बन्ध में तीसरी प्रकार की परीक्षा उत्तीर्ण परीक्षाएं हैं। इसके अन्तर्गत कर्मचारी को केवल परीक्षा में पास होना होता है तथा इस के द्वारा वह अपनी योग्यता का परिचय देता है। परीक्षा में पास होने वाले कर्मचारियों की एक सूची तैयार कर ली जाती है और जब पदोन्नति के लिए कोई रिक्त स्थान होता है तो इस सूची में प्रत्याशियों में से क्रमानुसार कर्मचारियों को पदोन्नति किया जाता है। इस पद्धति का अधिकांश प्रयोग लिपिक तथा (Typist) आदि श्रेणियों के कर्मचारियों के सम्बन्ध में किया जाता है।

उपरोक्त परीक्षाओं के सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि कुछ परीक्षाएं सन्दर्शन (Interview) सहित होती हैं और कुछ सन्दर्शन रहित होती हैं और उत्तीर्ण परीक्षाएं जो निम्न पदों की पदोन्नति के लिए की जाती हैं, सन्दर्शन रहित होती हैं।

आलोचना (Criticism) – चाहे पदोन्नति के सम्बन्ध में परीक्षाओं को अधिक उपयोगी माना जाता है तथा इन में किसी कार की हानि होने की सम्भावना नहीं होती है परन्तु फिर भी इनकी आलोचना की जाती है तथा इनके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं

(1) परीक्षा द्वारा किसी कर्मचारी के व्यक्तित्व की पूर्ण जांच नहीं की सकती।
(2) परीक्षा एक ऐसी प्रणाली है जिसमें केवल विशेष तथ्यों को रटकर प्रत्याशी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है। इससे उसके वास्तविक ज्ञान तथा गुणों का पता नहीं लगाया जा सकता।
(3) परीक्षा प्रणाली पूर्णतः न्यायपूर्ण नहीं। इसके द्वारा दीर्घ आयु कर्मचारियों को नवयुवक प्रत्याशियों से मुकाबला करना पड़ता है जो अनुचित है क्योंकि दीर्घ आयु वाले कर्मचारी नवयुवकों की भान्ति विषय–वस्तु तथा आंकड़ों को न तो याद कर सकते हैं और न ही अधिक समय तक याद रख सकते हैं।
(4) प्रशासन में उच्च पदों के लिए नेतृत्व प्रदान करने की योग्यता, निरीक्षण एवं नियन्त्रण करने की क्षमता आदि उच्च गुणों की आवश्यकता होती है जिनकी जांच परीक्षाओं द्वारा नहीं की जा सकती।
(5) बहुत से देशों में परीक्षा की प्रणाली को पदोन्नति का आधार नहीं माना जाता. जैसे इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा भारत में पदोन्नति के लिए विभागीय परीक्षाओं को बहुत कम महत्व दिया जाता है।

इन सभी कारणों से परीक्षा पद्धति को योग्यता निर्धारण करने की लोकप्रिय विधि नहीं माना जा सकता।

सेवा अभिलेख अथवा कार्यकुशलता का माप

(Service Record or Efficiency Rating)

कर्मचारियों की योग्यता को अधिक विषयगत (Objective) रूप में निर्धारित करने के लिए एक और पद्धति सेवा–अभिलेखा रखना अथवा कार्यकुशलता का माप करना है। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक कर्मचारी की सेवा का अभिलेखा रखा जाता है और उसी के विवरण के आधार पर सेवा के उच्च पदाधिकारी की सेवा का अभिलेख रखा जाता है और उसकी के विवरण के आधार पर सेवा के उच्च पदाधिकारी अपने अधीन कर्मचारियों की कार्यक्षमता का पता लगाते हैं। जब कर्मचारियों की पदोन्नति का प्रश्न उत्पन्न होता है तो उनके सेवा अभिलेख को देखा जाता है और जिस कर्मचारी का अभिलेख अच्छा हो, उसे पदोन्नत कर दिया जाता है। इस सेवा अभिलेख के विवरण में कर्मचारियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों को लिखा जाता है।

(1) कर्मचारी की शाखा तथा विभाग के सम्बन्ध में ज्ञान
(2) कर्मचारी की व्यक्तित्व एवं चरित्र
(3) कर्मचारी की विवेक शक्ति
(4) कर्मचारी की उत्तरदायित्व ग्रहाण करने की क्षमता
(5) कर्मचारी में स्वयं प्रेरणा (Initiative)
(6) कर्मचारी की परिशुद्धता (Accuracy)
(7) कर्मचारी का बात–चीत करने का ढंग तथा व्यवहार कौशल
(8) कर्मचारी के पर्यवेक्षण करने की क्षमता
(9) कर्मचारी का उत्साह
(10) कर्मचारी के विषय में यह लिख दिया जाता है कि वह औसत से ऊपर है या नीचे या औसत से ऊपर है या नीचे या औसत पर है।
(11) कर्मचारी असाधारण रूप से पदोन्नति के योग्य है या नहीं।

सेवा अभिलेख की समीक्षा करते समय उच्च अधिकारी अपने अधीन कर्मचारियों की योगयता के सम्बन्ध में पांच प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते हैं–

1. उत्कृष्ट (Outstanding), 2. बहुत श्रेष्ठ (Very Good), 3. सन्तोषजनक (Satisfactory), 4. उदासीन (Indifferent), 5. निकृष्ट (Poor)

भारत में पदोन्नति सिद्धांत

पदोन्नति के लिए भारत में वरिष्ठता सिद्धांत व योग्यता सिद्धांत दोनों को काम में लिया जाता है और कहीं पर वरिष्ठता सिद्धांत को प्राथमिकता दी जाती है और कहीं पर योग्यता सिद्धांत को। साधारणतया वरिष्ठता को ही ध्यान में रखा जाता है। यदि वरिष्ठ कर्मचारी अयोग्य हो तभी वरिष्ठता की अवहेलना की जाती है। उच्च पदों पर एक अनुपात में योग्यता के आधार पर भी भर्ती की जाती है। विभाग के कर्मचारियों के अतिरिक्त बाहर के लोगों को भी आवेदन करने का अवसर प्रदान किया जाता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा में राज्य सेवाओं से पदोन्नति

भारतीय प्रशासनिक सेवा संवर्ग का गठन प्रत्यक्ष भर्ती तथा पदोन्नत अधिकारियों से होता है। आजकल आई. ए.एस. समेत तीनो अखिल भारतीय सेवाओं में 33 पद राज्य लोक सेवा अधिकारियों में से पदोन्नति द्वारा भरे जाते है।

राज्य सेवा से जब भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए जो पदोन्नतियां होती हैं तो उनके लिए संघ लोक सेवा आयोग के एक सदस्य तथा सम्बन्धित राज्य के भारतीय प्रशासन सेवा (आई ए एस) के वरिष्ठ सदस्यों को मिलाकर एक समीति बनायी जाती है। ऐसी समीति प्रत्येक राज्य के लिए अलग रहती है। वह राज्य की प्रशासकीय सेवा के उन अधिकारियों की क्रमानुसार एक सूची तैयार करती है जो कि भारतीय प्रशासनिक सेवा में पदोन्नति के योग्य हैं। यह सूची योग्यता के आधार पर बनाया जाता है। परन्तु वरिष्ठता का भी ध्यान रखा जाता है। यह भी सम्भव है कि कनिष्ठ अधिकारी का नाम वरिष्ठ अधिकारी के ऊपर रखा जाये। ऐसे चुनाव के लिए आठ साल की न्यूनतम सेवा परी होनी चाहिए। राज्य की सरकार उस सूची को संघ लोक सेवा आयोग के पास अनुमति के लिए भेजती है। जब–जब स्थान रिक्त होते हैं, तब–तब उस सूची के अधिकरियों को पदोन्नत किया जाता है। उक्त समिति की बैठक कम से कम साल में एक बार अवश्य होती है।

केन्द्रीय सेवाओं में पदोन्नति

भारतीय शासन के अन्तर्गत केन्द्रीय सेवा समूह क के लगभग 55 पद पुन व्यक्तियों द्वारा भरे जाते हैं जिनकी इस श्रेणी में सीधी भर्ती की जाती है और शेष स्थान पदोन्नति द्वारा भरे जाते हैं। पदोन्नति द्वारा भरे जाने वाले पदो का ठीक–ठाक अनुपात सेवा के अनुसार भिन्न–भिन्न होता है। भारतीय विदेश सेवा में 90 पद सीधी भर्ती से भरे जाते हैं जबकि केन्द्रीय सचिवालय के उच्चतम पदों के लिए अनुपात बहुत ही कम है जहाँ कि प्रथम श्रेणी के स्तर पर सीधी भर्ती होती ही नहीं। सारे पद पदोन्नति से भरे जाते है । समूह "स' (राजपत्रित) की सेवाओं एवम पदों में सीधी भर्ती अपेक्षाकत कम ही होती है। इस श्रेणी के लगभग 65 पदों की भर्ती समूह 'ग' के स्टाफ के लिए सुरक्षित रहती है। समूह 'घ' से बहुत कम कर्मचारियों की पदोन्नति समूह 'ग' में होती है। रेलवे तथा डाक तार विभाग में ऐसी कुछ व्यवस्था अवश्य पायी जाती है कि समूह 'घ' के कर्मचारियों को समूह 'ग' में आने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। डाक और तार विभाग में 41 प्रतिशत तक पद पदोन्नति से भरे जाते हैं। रेलवे में यह प्रतिशत केवल 10 है।

केन्द्रीय वेतन आयोग ने यह सिफारिश कर दी थी कि जिन पदों के लिए कार्यालयीन कार्य की जानकारी ही पर्याप्त प्रशिक्षण है, उन पदों के लिए वरिष्ठता के आधार पर ही पदोन्नतियाँ की जायें, ऊंचे पदों पर पदोन्नति करते समय मात्र वरिष्ठता का ही ध्यान नहीं रखा जाना चाहिए।

भारत में पदोन्नति हेतु विभागाध्यक्ष एवम् पदोन्नति मण्डल

भारत में पदोन्नति करने का अधिकार विभागाध्यक्ष का है। जब भारतीय शासन के उच्च पदों पर पदोन्नतियाँ की जाती है तब संघ लोक सवा आयोग का भी परामर्श लिया जाता है। इसी प्रकार जब राज्य शासन के उच्च पदों पर पदोन्नतियाँ की जाती है तब राज्य लोक सेवा आयोग से परामर्श लिया जाता है। जब एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पदोन्नति होती है तब वित्त मंत्रालय की भी स्वीकृति ले ली जाती है। विभागीय सचिवों के पद पर जब पदोन्नति की जाती है तो केन्द्र में प्रधानमंत्री की तथा राज्य में मुख्यमंत्री की अनुमति भी प्राप्त की जाती है।

भारतीय शासन के कतिपय विभागों में तथा कतिपय राज्यों में कुछ विभागों में "पदोन्नति मण्डल' या विभागीय.''पदोन्नति समिति' के माध्यम से भी पदोन्नतियाँ की जाती है। केन्द्रीय सचिवालय सेवा में एक वेतनमान से दूसरे वेतनमान में जो पदोन्नतियां होती हैं वे विभागीय "पदोन्नति समिति की अनुशंसा से होती है। इसके अतिरिक्त सम्बन्धित विभाग में कुछ अधिकारी जो कर्मचारियों के कार्य की व्यक्तिगत जानकारी रखते हैं, भी पदोन्नति समिति में सम्मलित होते हैं।

पदोन्नति व्यवस्था के दोष

भारतीय पदोन्नति व्यवस्था के कई दोष बतलाये गये हैं – प्रथम, इसमें सरकारी सेवा के बाहर के व्यक्तियों को पदोन्नति के अवसर नहीं देना है। यह व्यवस्था सरकारी कर्मचारियों को विशेष लाभ प्रदान करती है, उन्हें बाहर से योग्य व्यक्तियों के साथ प्रतियोगिता नहीं करनी पड़ती, द्वितीय इसमें निम्न स्तर के कर्मचारियों के लिए बहुत ही कम और सीमित अवसर होता है। तृतीय वरिष्ठता के कठोर नियम के कारण योग्यता के आधार पर पदोन्नति नहीं हो पाती। चतुर्थ, पदोन्नति परिषद जैसी नियमित संस्था के अभाव में पदोन्नति मनमाने ढंग से की जाती है। पंचम, कर्मचारी की व्यक्तिगत फाइल की जिन बातों को पदोन्नति के समय देखा जाता है वे पूरी जाँच–पड़ताल तथा निष्पक्षता के साथ नहीं बनायी जाती। पष्ठ, कई पदोन्नतियाँ स्वेच्छाचारी तथा असम्बद्ध रूप से होती है। जिस गोपनीय प्रतिवेदन के आधार पर की जाती है उसका निष्पक्ष एवम् विश्वसनीय होना भी संदेहजनक है। सप्तम् ऐसी कोई कारगर व्यवस्था नहीं है जिसके द्वारा प्रभावित कर्मचारी अपनी पदोन्नति सम्बन्धी शिकायतों का निदान पा सकें। उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारी के प्रतिवेदन पर विरोध या आपत्ति प्रकट नहीं करते उसे यथावत स्वीकार कर लेते हैं।

पदोन्नति के सम्बन्ध में वेतन आयोग की सिफारिशें

वेतन आयोग द्वारा पदोन्नति के सम्बन्ध में की गयी सिफारिशें निम्नलिखित हैं

1. उच्च पदों पर पदोन्नति करते समय योग्यता को मापदण्ड बनाना चाहिए और निम्न स्तर के पदों पर वरिष्ठता एवम उपयुक्तता को अपनाना चाहिए।
2. पदोन्नति के लिए योग्यता परीक्षाएं केवल उन्हीं पदों के सम्बन्ध में की जानी चाहिए जिनके लिए विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है।
3. तृतीय श्रेणी तथा राजपत्रित द्वितीय श्रेणी कर्मचारियों की पदोन्नति करते समय समिति प्रतियोगी परीक्षाओं की व्यवस्था की जानी चाहिए।
4. गोपनीय प्रतिवेदन का उच्चस्तर पर सूक्ष्म परीक्षण करके यह पता लगाना चाहिए कि क्या इसे सम्बन्धित अनुदेशों के आधार पर ही तैयार किया गया है। ऐसा न होने पर उसे संशोधन के लिए वापस लौटा दिया जाना चाहिए।

प्रशासकीय सुधार आयोग की पदोन्नति विषयक सिफारिशें

सन् 1969 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने केन्द्रीय कर्मचारियों की पदोन्नति के बारे में निम्नलिखित सिफारिशें की थीः

1. **विभागीय पदोन्नति समिति** :– पदोन्नति का कार्य सदैव विभागीय पदोन्नति समितियों द्वारा किया जाना चाहिये, क्योंकि केवल विभागाध्यक्ष द्वारा किये जाने वाले पदोन्नति के कार्य से यह अधिक अच्छा है।
2. **कार्य सम्पन्नता प्रतिवेदन** :– वर्ष की समाप्ति पर जिस अधिकारी की रिपोर्ट लिखी जानी है उसे स्वयंमेव 300 शब्दों में उसके द्वारा वर्ष भर में किए गए विशेष कार्यों का विवरण अपने सम्बन्ध में उच्च अधिकारी को (रिर्पोट देने वाले अधिकारी को) प्रस्तुत करना चाहिए। इस विवरण पर रिपोर्ट देने वाले आधिकारी को इन्हें भेज देना चाहिए। समीक्षक अधिकारी को इस पर आवश्यकतानुसार अपनी टिप्पणियाँ देते हुए सम्बद्ध अधिकारी के कार्य का मूल्यांकन करते हुए उसका क्रम निर्धारण करना चाहिए। इसमें केवल तीन ही क्रम या दर्जे होने चाहिए।

   क. अवसर न होने पर भी पदोन्नति योग्य
   ख. पदोन्नति योग्य
   ग. अभी पदोन्नति योग्य न होना।
3. **समूह ''ख'' में पदोन्नति हेतु परक्षाएं** – वर्तमान में प्रायः समूह ''ख'' से समूह 'क' में पदोन्नति से भरे जाने वाले पदों की संख्या 20 होती है। प्रशासकीय सुधार आयोग ने इसे 40 तक बढ़ाने की सिफारिश की थी और यह कहा था कि इनमें से आधे पदों के लिए परीक्षा पद्धति को अपनाया जाये ताकि इससे ऐसे व्यक्तियों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिले जो तुलनात्मक दृष्टि से कम आयु के और कनिष्ठ होते हुए भी बहुत योग्य हैं।
4. **समूह ''ग'' वालों की समूह ''ख'' में पदोन्नति** – ऐसे कर्मचारियों की संख्या काफी होती है जो समूह 'ग' से समूह ''ख'' में पदोन्नति किये जाते हैं। ऐसे 50 पदों पर पदोन्नति के लिए परीक्षा प्रारम्भ की जानी चाहिए। शेष 50 प्रतिशत की पदोन्नति के लिए वर्तमान तरीका ही अपनाया जाना चाहिए।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. कार्मिक लोक प्रशासन का अर्थ तथा प्रकृति का वर्णन कीजिए।
2. कार्मिक लोक प्रशासन की अवधारणा तथा क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
3. उच्च लोक सवकों की भर्ती कैसी होती हैं?
4. लोक सेवकों की भर्ती की विभिन्न विधियाँ क्या हैं?
5. आन्तरिक तथा बाह्य भर्ती क्या है? इनके गुणों व दोषों का वर्णन कीजिए।
6. भारत में उच्चतर लोक सेवकों के प्रशिक्षण की विधि का वर्णन कीजिए।
7. प्रशिक्षण क्या है? लोक सेवकों को प्रशिक्षण के उद्देश्यों का विवेचन कीजिए।
8. भारतीय प्रशिक्षण के दोषों का उल्लेख करें एवं सुधार के उपाय सुझायें।
9. पदोन्नति शब्द से आप क्या समझते हैं? लोक सेवकों की पदोन्नति के लिए किन किन सिद्धांतों का पालन किया जाना चाहिए?
10. एक स्वस्थ्य पदोन्नति पद्धति के लिए कौन कौन से तत्व अनिवार्य है?
11. वरीयता एवं योग्यता के सिद्धान्तों में से पदोन्नति के लिए किसे आप प्रमुख रूप से अपनाना ठीक समझते है।

अध्याय - 2

संघ लोक सेवा आयोग : संगठन, शक्तियाँ एवं कार्य

Union Public Service Commission: Organisation, Powers and Functions

भारत में कार्मिक वर्ग के प्रशासन के क्षेत्र में संघ लोक सेवा आयोग का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत में लोक सेवा आयोग का लोकतत्र का एक आधार माना जाता है। सेवा विषयों के सम्बन्ध में स्वतंत्र विचार रखने के कारण यह कार्यपालिका का राजनीति व प्रशासन तंत्र के मध्य आवश्यक संतुलन स्थापित करने में सहायता देता है। संघ लोक सेवा आयोग यद्यपि एक परामर्शदात्रा संस्था है तथापि इसकी सिफारिशें प्रायः ठुकराई नहीं जाती।

लोक सेवा आयोग की आवश्यकता

भारत में संघ तथा राज्यों के लोक सेवा आयोगों को लोकतंत्र का संरक्षक माना जाता है। ये आयोग, लोक सेवाओं में योग्यता को एकमात्र मापदंड स्वीकार कर लोकतंत्र के अर्थ एवं उसके व्यवहार को घोषित करते हैं। ये प्रशासन को निष्पक्ष उपकरण प्रदान कर उसे राजनीतिक संस्थाओं के संभावित दवाबों से बचाते हैं। संघ लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष ए. आर. किदवई के शब्दों में, ''संसदीय लोकतंत्र में लोक सेवा आयोगों को बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होती है, क्योंकि संसदीय लोकतंत्र में लोक सेवाओं में गुण–दोष के आधार पर भर्ती की व्यवस्था होना आवश्यक होता है और यह काम लोक सेवा आयोगों के माध्यम से ही हो सकता है।''

प्रो. एम. वी. पायली के अनुसार ''लोक सेवा आयोग का कार्य दो प्रकार से होता है – प्रथम तो धूर्त जनों को सेवा से बाहर रखना और दूसरा योग्य व्यक्तियों को लोक सेवाओं में लाने का प्रयास करना।'' संक्षेप में, लोक सेवा आयोग की आवश्यकता के प्रमुख कारण है प्रथम आवश्यक संतुलन स्थापित करने में सहायता देना। द्वितीय, लोक सेवाओं में नियुक्ति के लिए योग्यतम प्रत्याशियो का चयन करना। तृतीय, लोक सेवाओं को भाई–भतीजावाद एवं भ्रष्टाचार से दूर रखना । चतुर्थ, लोक सेवाओं के मामलों पर सरकार को तकनीकी परामर्श प्रदान करना। जॉन एस. टी. क्वाह के अनुसार, "लोक सेवा आयोग लोक सेवा से राजनीति को अलग रखने तथा उसके स्थानीयकरण को तीव्र करने के साथ–साथ कार्मिकों की नियुक्ति, पदोन्नति स्थानांतरण तथा अनुशासन के बहाल के लिए भी उत्तरदायी है।''

भारत जैसे देश में लोक सेवा आयोगों की आवश्यकता के संबंध में अत्युक्ति कर सकना ही संभव नहीं है। भारतीय समाज में विभिन्न जातियों, भाषाओं तथा धर्मों की उपस्थिति के कारण यदि लोक सेवाओं के नियोजन में राजनीतिक विचार या अनुग्रह प्रभाव का दवाब बना रहता है तो राष्ट्र के विकास में अत्यधिक बाधा पहुँचेगी। इसी कारण संविधान निर्माताओं ने भी लोक सेवा आयोगों की महती भूमिका को स्वीकार किया था। यही कारण है कि भारत में लोक सेवा आयोगों को संवैधानिक संस्थाओं का दर्जा प्रदान किया गया।

भारत में सर्वप्रथम सन् 1919 के भारत शासन अधिनियम के अधीन सन् 1926 में ''लोक सेवा आयोग' स्थापित हआ। सन 1924 के ली कमीशन की संस्तुतियों के आधार पर इस आयोग को कतिपय कृत्य–सौपें गए थे। बाद में सन् 1935 के भारतीय शासन के उपबंधों के अधीन संधीय लोक सेवा आयोग स्थापित होने पर इसके कृत्यों का विस्तार हुआ। 26 जनवरी 1950 को जब स्वतंत्र भारत का नया गणतंत्रात्मक संविधान लागू हुआ तब उसमें यह प्रावधान किया गया कि एक संघ सरकार के लिए लोक सेवा आयोग होगा और संघ के घटक प्रत्येक राज्य के लिए भी एक–एक लोक सेवा आयोग होगा।

संघ लोक सेवा आयोगः सगठन

(क) **सदस्यों की नियुक्ति तथा पदावधि**–संघ लोक सेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा कुछ अन्य सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। आयोग के सदस्यों की संख्या राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती है।

संघ लोक सेवा आयोग के कम से कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जो कम से कम दस वर्ष तक के लिए सरकारी सेवा का अनुभव प्राप्त कर चुके हों। इस उपबंध का अभिप्राय यह निश्चित करना है कि आयोग के सदस्य अनुभवी व्यक्ति हो तथा आयोग एक विशेषज्ञों की संस्था के रूप में कार्य कर सके। सन् 1924 में ली आयोग ने कहा था कि इस बात का सर्वाधिक आवश्यकता है कि अत्याधिक लोक प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्तियों को आयोग का सदस्य बनाया जाए ताकि वे राज्य तथा उसके कर्मचारियों के मध्य महत्वपूर्ण व आत्मीय संबंध स्थापित कर सकें। इस प्रकार आयोग के अध्यक्ष सहित अन्य सदस्यों का चयन करते समय राष्ट्रपति को अपने संवैधानिक दायित्व के अनुरूप यह देखना होता है कि लगभग आधे सदस्य ऐसे हो जिन्होंने अपने नियुक्ति काल से पूर्व कम से कम दस वर्ष तक या तो किसी राज्य सरकार अथवा केन्द्रीय सरकार के अधीन कार्य किया हो। संविधान सभा में डॉ0 अम्बेडकर ने भी कहा था कि उस व्यक्ति से अधिक उपयुक्त कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता जो स्वयं लोक सेवाओं से संबद्ध रहा हो।

संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों का कार्यकाल पद भार ग्रहण करने की तिथि से छः वर्ष तक अथवा पैंसठ वर्ष की आयु प्राप्त करने तक जो भी पूर्व हो, होता है।

(ख) **वेतन तथा सेवा शर्ते** – आयोग के सदस्यों के वेतन तथा भत्तों एवं अन्य शर्तों को निर्धारित करने का अधिकार राष्ट्रपति को प्रदान किया गया है। किसी सदस्य के वेतन, भत्तों तथा सेवा की अन्य शर्तो को उसकी पदावधि में बदला नहीं जा सकता। संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष को 30000, रू० तथा सदस्यों को 26000 रू० मासिक वेतन मिलता है । अपनी कार्यावधि की समाप्ति के बाद सदस्य भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष या राज्य आयोग का अध्यक्ष बन सकता है।

संघ लोक सेवा आयोग का अध्यक्ष भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन कोई नियुक्ति नहीं पा सकता। डॉ० एम. ए. मुतालिव के अनुसार, ''इस प्रतिबन्ध का जनता पर गंभीर मनोवैज्ञानिक प्रभाप पड़ा है और आयोग के सदस्यों का विशेष सम्मान इस कारण करती है क्योंकि जनहित के लिए वे भावी पदों का त्याग करते हैं।''

(ग) **आयोग के सदस्यों को हटाया जाना** – संविधान के अनुच्छेद 317 में आयोग के सदस्यों को अपदस्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। आयोग के सदस्यों को दुराचार के लिए राष्ट्रपति के आदेश द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। दुराचार को प्रमाणित करने की प्रक्रिया संविधान द्वारा निश्चित की गई है। राष्ट्रपति द्वारा ऐसा मामला सर्वोच्च न्यायालय के पास विचारार्थ प्रस्तुत किया जाएगा। संविधान के अनुच्छेद 145 द्वारा निर्धारित प्रक्रियानुसार जाँच करने के बाद न्यायालय राष्ट्रपति के सम्मुख अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करेगा। इस जाँच के पूर्ण होने तक राष्ट्रपति उक्त सदस्य को आयोग से निलम्बित कर सकता है। लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा किसी सदस्य को राष्ट्रपति द्वारा निम्नलिखित किसी कारण के आधार पर भी अपदस्थ किया जा सकता है। यदि (क) वह दिवालिया हो, या (ख) वह अपने कार्यकाल में कोई अन्य संवैधानिक कार्य स्वीकार कर लेता है, या (ग) राष्ट्रपति की सम्मति में वह व्यक्ति मानसिक या शारीरिक दुर्बलता के कारण अपने पद पर कार्य करने में असमर्थ हो गया है, या (घ) अनुच्छेद 217 के अनुसार यदि भारत सरकार या किसी राज्य सरकार द्वारा या इनके वास्ते किए गए किसी संविदा या करार से लोक सेवा

आयोग के अध्यक्ष या सदस्य का सम्बन्ध हो तो इसको दुराचार समझा जाएगा और इस आधार पर उसको पदच्युत किया जा सकेगा।

(घ) संघ लोक सेवा आयोग का स्टाफ – संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को आयोग के स्टाफ की संख्या तथा सेवा की शर्तें निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है। राष्ट्रपति सेवा की शर्ते आदि निर्धारित करने से पूर्व आयोग से परामर्श करते हैं। वर्तमान नियमों के अनुसार आयोग को स्टाफ की नियुक्ति का अधिकार दिया गया है। आयोग के कार्यालय में सभी उच्च नियुक्तियाँ औपचारिक रूप से आयोग के अध्यक्ष द्वारा की जाती है।

आयोग के कार्यालय को केन्द्रीय सरकार के सचिवालय का एक भाग माना जाता है। परिणामतः आयोग के कर्मचारियों की पदोन्नति के अवसर अधिक हो गए हैं। केन्द्रीय सचिवालय में उन्हें पदोन्नति के अवसर मिलते हैं। केन्द्रीय सचिवालय के कर्मचारी भी पदोन्नति पर आयोग के कार्यालय में आते हैं।

आयोग के स्थायी स्टाफ में सचिव तथा अन्य अधिकारी तथा कर्मचारी हैं जिनकी संख्या समय–समय पर राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित की जाती है। आयोग के अध्यक्ष भी अपनी अधिकार सीमा के भीतर स्थाई तथा अस्थाई पदों की स्वीकृति देते हैं।

आयोग के सचिव का दर्जा भारत सरकार के संयुक्त सचिव के समान है। उसका वेतनमान तथा सेवा की शर्ते, भारत सरकार के संयुक्त सचिवों के समान ही है। सचिव की नियुक्ति आयोग द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए की जाती है। यदि कमीशन चाहें तो उसका कार्यकाल बढ़ा भी सकता है। अखिल भारतीय और केंदीय सेवाओं के अधिकारी आयोग में प्रतिनियुक्ति पर आते है। अपने कार्यकाल की समाप्ति पर वे अपनी सेवाओं में लौट जाते हैं। आयोग का स्टाफ आयोग द्वारा नियुक्त किया जाता है। इसका वेतनमान तथा सेवा की शर्ते, भत्ते आदि समान स्तर वाले भारत सरकार के अधिकारियों जैसे होते हैं।

लोक सेवा आयोग के कार्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 320 के अनुसार लोक सेवा आयोग को निम्नांकित कार्य सौंपे गए हैं।

(1) संघ तथा राज्यों की सेवाओं में नियुक्तियों के लिए परीक्षाओं का आयोजन करना।

(2) यदि दो या अधिक राज्य संघ लोक सेवा आयोग को संयुक्त नियोजन अथवा भर्ती के लिए आग्रह करें तो राज्यों को इस प्रकार की योजनाएँ बनाने में सहायता करना।

(3) संघ तथा राज्य सरकारों को निम्नांकित मामलों पर आयोग के साथ परामर्श करना अपेक्षित है

(क) लोक सेवाओं में भर्ती के तरीके के बारे में मामलों पर,

(ख) लोक सेवाओं में नियुक्ति और पदों के लिए अपनाए जाने वाले सिद्धान्तों पर और एक सेवा से दूसरी में स्थानातरण और पदोन्नति के मामलों पर,

(ग) अनुशासनात्मक मामलों पर

(घ) कानूनी खर्च की प्रतिपूर्ति पर,

(ड) शासकीय सेवा में रहते हुए घायल हो जाने के कारण पेन्शन देने के मामलों पर।

संघ लोक सेवा आयोग के कार्यों पर प्रकाश डालते हुए इसके भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० किदवई लिखते हैं, ''वास्तव में संघ लोक सेवा आयोग विभिन्न संगठित सेवाओं में भर्ती के लिए साक्षात्कार के माध्यम से चयन करता है, सेवा के नियमों ओर विनियमों के बारे में सरकार को परामर्श देता है, विभिन्न पदों और सेवाओं के लिए भर्ती के नियम बनाता है, नई सेवाओं का गठन करता है, पदोन्नति के लिए सिद्धान्त बनाता है, नागरिक कर्मचारियों के अनुशासनात्मक मामलों पर और नागरिक कर्मचारियों द्वारा भारत के राष्ट्रपति को की गई अपीलों, और याचिकाओं

के मामले में परामर्श देता है।'' डॉ० मतालिब ने आयोग के कार्यों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है – (1) कार्यकारी (2) नियामक (3) अर्द्धन्यायिक । परीक्षाओं के माध्यम से लोक महत्व के पदों पर प्रत्याशियों का चयन करना आयोग का कार्यकारी कर्तव्य है। भर्ती की पद्धतियों तथा नियुक्ति, पदोन्नति एवं निहित सेवाओं में स्थानांतरण आदि आयोग के नियामक प्रकृति के कार्य हैं तथा लोक सेवाओं को संबंधित अनुशासन के मामलों पर सलाह देना आयोग का न्यायिक कार्य है।

लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदन

संघ लोक सेवा आयोग को प्रतिवर्ष अपने कार्यों के संबंध में एक प्रतिवेदन तैयार कर राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है। सरकार इस प्रतिवेदन के साथ ज्ञापन जोड़ते हुए, जिसमें इस बात का उल्लेख किया जाता है कि आयोग की सिफारिशों पर किस प्रकार से अमल किया गया है, संसद के दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। लोक सेवा आयोग के प्रतिवेदनों से यह सिद्ध होता है कि कुछ मामलों को छोड़कर विभिन्न सरकारों ने आयोग की सिफारिशों को स्वीकार किया है और समुचित कार्यवाही की है। उदाहरणार्थ, सन् 1950 से 1991 तक कार्मिकों की नियुक्ति, पदोन्नति आदि के संबंध में हजारों सिफारिशें संघ लोक सेवा आयोग ने केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत की, किन्तु केवल 110 मामलों में ही सरकार ने उसके परामर्श को अस्वीकार किया। संघ लोक सेवा आयोग ने न केवल सरकार द्वारा की जाने वाली अनियमित नियुक्तियों का विरोध ही किया है बल्कि उसने निडरता से अपने वार्षिक प्रतिवेदनों में ऐसे मामलों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश भी डाला है। उदाहरणार्थ सन् 1971–1972 के वार्षिक प्रतिवेदन में आयोग ने स्पष्ट शिकायत की है कि सरकार ने अनियमित नियुक्तियों के संबंध में आयोग से सलाह तक नहीं ली। 1989–90 के प्रतिवेदन में आयोग को खेद के साथ कहना पड़ा है कि सरकार की ओर से आयोग द्वारा अनुमोदित भर्ती नियमों को अधिसूचित करने में असाधारण विलम्ब होता है। आयोग द्वारा ऐसी शिकायतों से कई बार संबंधित मंत्रालय, संसद तथा इसके बाहर आलोचना के शिकार हुए हैं।

लोक सेवा आयोग के सदस्यों की स्वतंत्रता

हमारे संविधान में लोक सेवा आयोग के सदस्यों को स्वतंत्रता बनाए रखने हेतु निम्नलिखित प्रावधान किए हैं

(1) आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को संविधान में निर्धारत प्रक्रियानुसार ही पदच्युत किया जा सकता है।

(2) आयोग के किसी भी सदस्य के पद से संबंधित शर्तों को उसके कार्यकाल में हानि के रूप में नहीं बदला जा सकता।

(3) लोक सेवा आयोग के सदस्यों के वेतन, भत्ते तथा प्रशासकीय व्यय भारत सरकार की संचित निधि पर भारित है। अतः संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों के वेतन तथा भत्तों के संबंध में संसद में मतदान नहीं किया जा सकता है।

(4) संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों को कुछ अपवादों को छोड़कर पुनः उसी पद या सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है। संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष की अनुपयुक्तता की प्रकृति महत्वपूर्ण है क्योंकि वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन कोई नियक्ति नहीं पा सकता। ऐसा प्रतिबंध तो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीशों पर भी नहीं है।

उपयुक्त संवैधानिक उपबंधों द्वारा लोक सेवा आयोग के सदस्यों की निष्पक्षता बनाए रखने का भरसक प्रयास किया गया है। 1950 में कार्यपालिका के निर्णय द्वारा लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष का दर्जा भारत सरकार के सचिव से ऊंचा है किन्तु आयोगों के सदस्यों को ऐसा दर्जा प्राप्त नहीं है। सन 1924 में ली कमीशन ने सुझाव दिया था कि आयोग का दर्जा उच्च न्यायालय के समतुल्य होना चाहिए और सन् 1967–68 में प्राक्कलन समिति ने भी स्वीकार किया कि आयोग के सदस्यों व अध्यक्ष के वेतन एवं भत्तों का पुनः निर्धारण होना चाहिए किन्तु इस ओर लम्बे समय तक ध्यान नहीं दिया गया। लोक सेवा आयोग की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए संघ लोक सेवा

आयोग के भुतपूर्व अध्यक्ष आर.सी.एस. सरकार ने सुझाव दिया कि संघ तथा राज्य लोक सेवा आयोग में उच्च गुणों वाले निष्पक्ष व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए उनका दर्जा, वेतन तथा भत्ते उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायधीशों के समतुल्य कर दिए जाएं और सभी नियुक्तियों में अध्यक्ष की सलाह को अधिक महत्त्व दिया जाए।

संघ लोक सेवा आयोग को राजनैतिक प्रभाव से मुक्त रखने के लिए इसे प्रशासनिक पदसोपान से बाहर रखा गया है और स्वतन्त्र रूप से संगठित किया गया है किन्तु व्यवहार में विविध कानूनों एवं नियमों के माध्यम से कार्यपालिका प्रमाणिक रूप से आयोग का कार्य–क्षेत्र निर्धारित करती है। फिर राजनैतिक आधार पर भी आज अनेक नियुक्तिया हो रही हैं। अनेक पदों को आयोग के कार्य–क्षेत्र से बाहर कर दिया गया है जिससे कार्यपालिका एवं मंत्रालयों की नियुक्तियों में हस्तक्षेप की प्रवृत्ति बढ़ गई है। लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करते समय उसके अध्यक्ष का भी परामर्श नहीं लिया जाता। यदि आयोग का कोई गैर–सरकारी सदस्य है तो उसे पेन्शन नहीं मिलती। फिर, अपने सेवाकाल के मध्य में कोई भी व्यक्ति आयोग की सदस्यता के प्रति मुश्किल से आकर्षित होता है क्योकि केंद्रीय अथवा राज्य सरकारों के अधीन कार्य पाने की संभावनाओं पर यहाँ प्रतिबन्ध व सीमाएँ लगी हुई हैं। कोई व्यक्ति जो अध्यक्ष पद स्वीकार करता है अनिवार्यतः या तो अपने सेवा कार्यकाल की समाप्ति पर होता है या उस समय ऐसे पद पर होता है कि उसके लिए भावी सरकारी पद रूचि का विषय नहीं रह जाता।

आयोग की सलाहकारी भूमिका

संविधान में लोक सेवा आयोगों का कार्य सिर्फ सलाह देना रखा गया है। सरकार आयोग द्वारा चुने प्रत्याशियों को नियुक्ति देने के लिए अथवा आयोग द्वारा निर्धारित योग्यता क्रम में नियुक्ति देने के लिए किसी प्रकार बाध्य नहीं है। हाँ साधारणतया सरकार आयोग की सलाह स्वीकार कर ही लेती है। इसी प्रकार अन्य सेवी संबंधी मामलों में जिनमें पदोन्निति आदि के मामले भी सम्मिलित हैं, आयोग का कार्य सलाह भर देना है। सन् 1919 तथा 1935 के अधिनियम के अधीन स्थापित आयोग भी सलाहकारी थे, सरकार को बाध्य करने वाले नहीं। 1935 में भारत सचिव समुअल होर ने ब्रिटिश लोक सदन में लोक सेवा आयोग को सलाहकारी स्थिति प्रदान करने की वकालत करते हुए कहा था, "यह संयुक्त प्रवर समिति का निश्चित विचार था और यहाँ के भारतीय सलाहकारों का भी निश्चित विचार है कि लोक सेवा आयोग को सलाहकार रखना ही अच्छा है। अनुभव दर्शाता है कि सलाहकार होने पर बाध्यकारी (मेण्डेटरी) होने की अपेक्षा वे अधिक प्रभावशाली होते हैं। खतरा यह कि यदि आप उन्हें मेण्डेटरी शक्तियाँ दे दें तो आप प्रत्येक राज्य में और केन्द्र में दो–दो सरकारें बना देंगे –अनेक दृष्टिकोणों से यही अच्छा है कि वे सलाहकार ही हों।''

हमारे संविधान निर्माताओं ने लोक सेवा आयोगों का 1935 के अधिनियम में निर्धारित सलाहकार स्वरूप सुरक्षित रखा। परंतु इस स्वरूप को अधिक उपयोगी बनाने की व्यवस्था भी कर दी। अनच्छेद 323 द्वारा वर्तमान संविधान न यह भी व्यवस्था की है कि संघ लोक सेवा आयोग राष्ट्रपति को और राज्य लोक सेवा आयोग संबंधित राज्य के राज्यपाल को एक वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तत करें जिसे संबंधित विधानमंडलों के सम्मुख प्रस्तत किया जाए। आयोग अपने प्रतिवेदन में उन मामलों का उल्लेख जिनमें उनका परामर्श सरकार ने नहीं माना और सरकार इस संबंध में ज्ञापन द्वारा सदन को स्पष्ट करे कि आयोग का परामर्श क्यो माना गया। डॉ एम वी पायली के अनुसार आयोग की सिफारिशें केवल परामर्श के रूप में पेश किए जाने पर अधिक प्रभावशाली होती है।

यदि ये बाध्यकारी होती तो शायद कम प्रभावशाली होतीं। यदि आयोग को बाध्यकारी सत्ता प्रदान की गई तो इस बात का भय है कि सरकार तथा आयोग के बीच विवाद उत्पन्न होंगे और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती हैं जिनमें दोनों एक ही से अधिकार के अंतर्गत प्रतिद्वन्द्वी संस्था बन बैठे और प्रत्येक अपनी इच्छा दूसरे पर लादने का प्रयास करने लगे। इस प्रकार जहाँ एक और संविधान ने आयोग को राजनीति और अन्य संभव दबावों से मुक्त रखने की समुचित व्यवस्था कर उन्हें निष्पक्ष सलाह देने के लिए निर्भय कर दिया है वहीं दूसरी ओर उनकी सलाह मानने

के लिए सरकार का बाध्य कर इस बात की भी व्यवस्था की है कि आयोग अपने अधिकारों का दुरूपयोग न कर सकें।

संघ लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री युत् सरकार का अभिमत है कि आयोग की सिफारिशों को मानना सरकार के लिए बाध्यकारी कर दिया जाए। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि केंद्र में एक अच्छी परंपरा विकसित हो गई है कि आयोग की सिफारिशों को प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है। कोई भी मंत्रालय उस समय तक आयोग की सिफारिशों को अस्वीकार नहीं करता जब तक कि मंत्रिमंडल की नियक्ति समिति की स्वीकृति नहीं ले लेता। और उसके बाद भी उसे संसद में उन कारणों का स्पष्टीकरण देना होता है जिसके आधार पर आयोग की सलाह को अस्वीकार किया गया है। औसतन आयोग की प्रतिवर्ष हजारों में से दो से भी कम सिफारिशों को सरकार ने अस्वीकार किया है। किंतु 1984–85 के बाद आयोग की सिफारिशों को व्यापक रूप में अस्वीकृत करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यह व्याकुल करने वाली प्रवृत्ति है और हम इस पर गहरी चिंता व्यक्त कर सकते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि आयोग की सलाह को बिना सार्वजनिक विवाद का विषय बनाते हुए सरकार अन्य तरीकों से भी नियुक्तियाँ कर देती है। यदि कोई मंत्रालय किसी उम्मीदवार का चयन पसंद नहीं करता तो वह प्रस्तावित पद वापस माँग सकता है और फिर उस पर एक वर्ष के लिए अपनी पसंद के व्यक्ति की अस्थायी नियुक्ति कर सकता है और वह अस्थायी व्यक्ति भी इसमें अपने अर्जित अनुभव लाभ के आधार पर भाग ले सकता है, जिससे निश्चित वह लाभान्वित होगा। कभी–कभी कोई मंत्रालय अल्पकाल के लिए तदर्थ नियुक्तियाँ कर लेता है और प्रत्याशी की कार्यावधि निरंतर बढ़ाता रहता है। मंत्रालय, आयोग को यह आश्वासन दे सकता है कि प्रस्तावित पद कुछ समय बाद समाप्त हो जाएगा और इस प्रकार आयोग को मंत्रालय की बात माननी पडती है। संघ लोक सेवा आयोग ने इस प्रकार की हरकतों का बार–बार विरोध किया है।

लोक सेवा आयोग का दुर्बल पक्ष

भारतीय राजव्यवस्था में लोक सेवा आयोगों का विशिष्ट महत्त्व है, किंतु वर्तमान में आयोगों के ढाँचे एवं कार्यशैली में अनेक दुर्बलताएँ आ गई हैं, जिनमें से कतिपय दुर्बलताएं इस प्रकार हैं:

(1) आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करते समय पर्याप्त ध्यान नहीं रखा जाता है।

(2) संघ लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र से विभिन्न तरीको द्वारा अनेक पदो पर नियुक्ति का अधिकार छीन लिया जाता हैं। उदाहरणार्थ भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के मामले को लिया जा सकता है जो पूर्व में एक विभाग था और बाद में उसे स्वायतशासी संस्था बना दिया गया है। आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्रीयुत् सरकार की दृष्टि में इसका कारण यह था कि नियुक्तियों में मनमानी की जा सके। यह भी प्रयास चल रहा है कि वैज्ञानिक और तकनीकी स्वरूप के पदों पर नियुक्ति का अधिकार आयोग के क्षेत्राधिकार से बाहर कर दिया जाए। यदि ऐसा किया जाता है तो लगभग 80 प्रतिशत नियुक्तियों में आयोग का कोई वर्चस्व नहीं रह जाएगा।

(3) ऐसा माना जाता है कि संसद और विधानमंडलों में आयोग के प्रतिवेदनों पर समुचित वाद–विवाद और विचार मंथन नहीं होता है। श्रीयुत् सरकार के अनुसार, व्यवहार में संसदीय नियत्रण प्रभावकारी नहीं रहा है। आयोगों के वार्षिक प्रतिवेदनों पर पर्याप्त रूप से वाद–विवाद नहीं हो पाता। श्री धर्मवीर के अनुसार, संसद और विधानमंडलों में प्रतिपक्ष की दुर्बल स्थिति के कारण आयोग के प्रतिवदेनों के बारे में सरकार पर प्रतिबंध नहीं रह जाता है।

(4) आयोग द्वारा आयोजित मौखिक परीक्षाओं तथा व्यक्तित्व परीक्षाओं में शहरी तथा अंग्रेजी स्कूलों से आए प्रत्याशियों को देहाती प्रत्याशियों की अपेक्षा अधिक प्रश्रय दिया जाता है।

(5) आयोग द्वारा अपनाई गई चयन प्रक्रिया के कारण केवल उच्च परिवारों के धनी प्रत्याशियों को ही उच्च सेवाओं में प्रवेश मिल पाता है। डॉ. भाम्भरी ने लोक सेवा आयोग को बंद नौकरशाही निगम (Closed Bureaucratic Corporation) कहा है जो अपने भर्ती के तरीकों द्वारा स्थापित नौकरशाही व्यवस्था को निरंतर बनाए रखता है।

(6) भारत में लोक सेवा आयोग का दृष्टिकोण एवं कार्य प्रक्रिया अभी तक मूल रूप से नकारात्मक है। यह धूर्तों को दूर रखने का ही प्रयत्न करता है। इनके द्वारा रिक्त पदों के लिए किए जाने वाले विज्ञापन योग्य तथा कुशल प्रत्याशियों को आकर्षित नहीं कर पाते।

(7) आयोग का कार्य भार अधिक है। वह सदैव अपने नियमित कार्यों में ही व्यस्त रहने के कारण भर्ती नीतियों में अधिक नए प्रयोग नहीं कर पाता।

(8) संघ लोक सेवा आयोग द्वारा आयोजित की जाने वाली सिविल सेवा परीक्षा के पर्चों की गोपनीयता भंग होने के मामले प्रकाश में आने लगे हैं। इससे आयोग की विश्वसनीयता घट सकती है।

आयोग की बदलती भूमिका

राज्यों के लोक सेवा आयोगों के सदस्यों और अध्यक्षों के सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने इस बात पर जोर दिया कि इस प्रकार की रोजगार नीति अपनाई जानी चाहिए कि लोक सेवाओं में अधिक से अधिक ग्रामोन्मुख प्रत्याशी शामिल हो जाएँ ताकि जो लोग गाँवों में काम करना चाहते हैं, उन्हें अधिक अवसर मिले। हमारे पास ऐसे प्रशासक हो जो लोगों की अभिलाषाओं के प्रति उदासीन न हों। यह अभिलाषाएं चाहे समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और प्रजातंत्र संबंधी हों। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अधिकारियों को सांप्रदायिक, क्षेत्रीय और भाषाई पूर्वाग्रहों के ऊपर होना चाहिए।

सर्वत्र यह अनुभव किया जा रहा है कि अब देश की परिस्थितियाँ और लोगों की महत्त्वाकांक्षाएं इतनी बदल गई हैं कि संघ लोक सेवा आयोग के साथ–साथ राज्य के लोक सेवा आयोगों को भी अपनी कार्य प्रणाली और संगठन पर पुनर्विचार करना होगा। शैक्षणिक संस्थाओं से प्रतिवर्ष भारी संख्या मे शिक्षित युवक निकल आते हैं जिनके कारण लोक सेवा आयोगों का कार्य और भी जटिल हो गया है। ये आयोग एक विचित्र भँवर में फंस गए हैं।

लोक सेवा आयोगों के कार्यों में सुधार

लोक सेवा आयोगों के परिप्रेक्ष्य में कई सुधार अपेक्षित हैं। आयोगों का दर्जा बढ़ाना आवश्यक है। उन्हें उच्च न्यायालय के समतुल्य दर्जा मिलना चाहिए। आयोगों के अध्यक्षों तथा सदस्यों के वेतन भत्तों का यथाशीघ्र पुनर्निरीक्षण किया जाना चाहिए। राज्यों में लोक सेवा आयोगों की गिरती हुई प्रतिष्ठा को बचाना बहुत आवश्यक है। आयोगों में ऐसे व्यक्ति नियुक्त किए जाने चाहिए जिनकी साख पर कोई धब्बा न हो। आजकल आयोग का काम सरकारी सेवा तक ही सीमित है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में नियक्तियों का काम आयोग के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखा गया है, जो ठीक नहीं।

प्राक्कलन समिति ने भी सझाव दिया है कि सार्वजनिक उद्यमों में भर्ती का कार्य पुनः आयोग को ही सौंप दिया जाना चाहिए। प्रशासनिक सुधार आयोग के अध्ययन दल ने कहा है कि संविधान के अनुच्छेद 321 के अधीन संसदीय विधि द्वारा संघ लोक सेवा आयोग के अधिकार क्षेत्र का विस्तार किया जाना चाहिए ताकि सरकारी धन राशि से चलाए जाने वाले सार्वजनिक क्षेत्र के अलाभकारी संगीत अधिकार क्षेत्र में लाए जा सके। अध्ययन दल ने भी यह सुझाव दिया है कि संघ लोक सेवा आयोगों को भर्ती साक्षात्कार कार्य के मूल्यांकन, आदि के लिए आधुनिक तरीकों का विकास करना चाहिए।

संघ लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ. किदवई का यह सुझाव उचित है कि राष्ट्रीय प्रतिभा परीक्षाओं के प्रयोग को चालू किया जाए। यही एक रास्ता है जिससे हम राष्ट्रीय रोजगार नीति बना पाने में सफल होंगे।

परीक्षा की आवश्यकता पर जोर देते हुए उन्होंने कहा कि आज 100 में से 97.3 प्रत्याशी संघ आयोग की विभिन्न परीक्षाओं में अनुत्तर्ण हो जाते हैं मगर यदि राष्ट्रीय स्तर पर सभी प्रकार के रोजगार के लिए एक ही परीक्षा का आयोजन किया जाता है तो इन अनुत्तर्ण नवयुवकों में से एक तिहाई को विभिन्न प्रकार के कामों में लगाया जा सकता था।

उद्देश्य यह है कि प्रत्याशियों को अलग–अलग नौकरियों के लिए आवेदन देते समय बार–बार एक ही प्रकार की परीक्षा में बैठना पड़ता है जो धन, समय एवं शक्ति का भी अपव्यय है। यदि एक ऐसी योजना बनाई जाए जिससे प्रति वर्ष नौकरी चाहने वाले सभी नवयुवकों को केवल एक बार परीक्षा में बैठने का मौका दिया जाए और उसी परीक्षा के मूल्यांकन के आधार पर उन्हें योग्यता अनुसार अलग–अलग नौकरियों की ओर भेजा जाए तो समस्या का निदान हो सकता है। आशा है सरकार गृह मंत्रालय तथा राज्यों के आयोग भी इस सुझाव पर गभीरता से विचार मंथन कर कुछ नया खोज निकालेंगे।

निष्कर्षतः संसद और राज्य विधानमंडलों में लोक सेवा आयोगों के कार्यों की भूरि–भूरि प्रशंसा हुई है और उनके चयन में निष्पक्षता होने की आमतौर पर सराहना की गई है। संघ लोक सेवा आयोग की स्थिति एवं शक्ति का अनुमान इसी उदाहरण से लगाया जा सकता है कि जब सरकार ने एक भुतपूर्व वित्त सचिव एच एम पटेल को बर्खास्त करने का विचार किया तो आयोग ने उन्हें संरक्षण दिया, तदनुरूप वित्तमंत्री को ही त्याग पत्र देना पड़ा।

महत्वपूर्ण प्रश्नः

1. संघ लोक सेवा आयोग की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. संघ लोक सेवा आयोग के कार्यों का वर्णन कीजिए।
3. संघ लोक सेवा आयोग की प्रमुख समस्याएं क्या हैं?

अध्याय - 3

मनोबल

Morale

व्यक्ति किसी कार्य को तब अधिक कुशलता से कर सकता है जब वह उसके साथ प्रतिबद्ध होगा। वह मन लगाकर कार्य करेगा तो उसकी लगन अधिक होगी। ऐसी स्थिति में वह अनेक कमियों तथा बाधाओं को अनदेखा करके भी कार्य को सफल बनाने का प्रयास करता है। कर्मचारी की ऐसी स्थिति को मनोबल कहा जाता है। लोक प्रशासन में मनोबल का महत्वपूर्ण स्थान है। लोक सेवको के मनोबल पर ही प्रशासन की कार्य–कुशलता निर्भर करती है। आज प्रशासनिक कर्मचारियों के मनोबल का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि किसी भी प्रशासनिक या औद्योगिक संगठन का वह आधार स्तम्भ है जिसके सहारे उनकी समस्त क्रियाएँ संचालित होती हैं। मनोबल कर्मचारियों की कार्यक्षमता में वृद्धि करता है। जब किसी संगठन या विभाग के कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा होता है तब उसका कार्य सुचारू रूप से सम्पादित होता है। यद्यपि यह एक वास्तविकता है फिर भी इसकी प्रकृति अदृश्य है जिसे भौतिक तत्व की भांति साकार रूप में देखा नहीं जा सकता, मात्र अनुभव किया जा सकता है। यह एक ऐसा तत्व है जो व्यक्ति में आत्म–सम्मान पैदा करता है एवं व्यक्तिगत विकास का अवसर प्रदान करता है।

मनोबल का अर्थ
The Meaning of Morale

'मनोबल' (Morale) का शब्दकोषीय अर्थ ''कार्य के प्रति विश्वास तथा रूचि संबंधी भावना से है। यह वह आंतरिक शक्ति है जो किसी व्यक्ति को कार्य के लिए प्रेरित करती है।'' सन् 1930 में 'मानवीय संबंध शब्द की उत्पत्ति से पूर्व 'मनोबल शब्द ही अधिकाशतः प्रयोग किया जाता था। मनोबल किसी भी प्रशासनिक या औद्योगिक संगठन का आधार स्तम्भ होता है जिनके सहारे उनकी समस्त क्रियाएँ संचालित होती हैं। कर्मचारियों का उच्च मनोबल किसी भी उपक्रम की सफलता के लिए आवश्यक है। संगठन तथा उपक्रम को निर्देशित, पथ–प्रदर्शित एवं पर्यवेक्षित करने के लिए संबंधित अधिकारियों द्वारा जो कदम उठाये जाते हैं उनका संगठन के मनोबल पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मनोबल को एक प्रकार से संगठन की जीवन–शक्ति कह सकते हैं, जिसके बिना समस्त प्रबन्धकीय क्रियाएँ निर्जीव रूप से संचालित होती हैं।

'मनोबल' से आशय मन के बल तथा आंतरिक बल से है जिसके माध्यम से कोई व्यक्ति कार्य करने के लिए प्रेरित होता है। यदि प्रतिष्ठान में कर्मचारी समय पर आते हैं, ईमानदारी से अपना कार्य–निष्पादन करते हैं, कार्य में आने वाले अवरोधों को तुरन्त दूर करने का प्रयत्न करते हैं, अधिकारियों के आदेशों का अनुपालन करते हैं तो यही माना जाता है कि उस प्रतिष्ठान के कर्मचारियों या श्रमिकों का मनोबल ऊँचा है। इस प्रकार, 'उच्च मनोबल' (Higher Morale) वह सुनिश्चित स्थिति है जिसमें सामूहिक प्रयास के लिए पूर्ण सहयोग पाया जाता है। औद्योगिक जगत में विभिन्न अध्ययनों से यह सामान्य मत प्रतिपादित हुआ है कि प्रतिष्ठान के पक्ष में विचार रखने वाले कर्मचारी साधारणतः अधिक अच्छे कर्मचारी (Better Employees) होते हैं और उनका मनोबल उच्च होता है।

संगठन में मनोबल के स्वरूप तथा अर्थ से सम्बन्धित विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई है। एलेक्जेण्डर लाइटन (Alexander Lighton) के अनुसार, "मनोबल व्यक्तियों के सामूहिक लक्ष्य की खोज में धैर्य के साथ एवं लगातार एक साथ चलने की क्षमता है।

स्टाउपर एवं लुचानन के अनुसार–"मनोबल किसी समूह या संगठन के कार्यों एवं समूहों की अभिवृत्ति है, जो उनकी सहयोग करने की स्वेच्छा का निर्धारण करती है।''

विलियम आर, स्प्रीगल के शब्दो में –''मनोबल का आशय बहुत से व्यक्तियों के जो आपस में किसी आधार पर एक दूसर से संबंधित हैं, सहकारी दृष्टिकोण या सामूहिक मानसिक व्यवस्था से है।''

लेटन के मत में – ''मनोबल व्यक्तियों के समूह की एक ऐसी क्षमता है जो सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु निरन्तर एवं अड़िग कार्य करने को प्रेरित करती है।''

डी एफ एल ब्रेच के शब्दों में ''मनोबल को किसी समूह या संगठन कार्यों तथा उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग के रूप में व्यक्त किया जा सकता है।''

डेल योडर के अनुसार–''मनोबल रोजगार के प्रति कर्मचारियों की अवस्थाओं, उनके वैयक्तिक कृत्यों, जिनक साथ काम करते हैं, उनके पर्यवेक्षकों, उनके संघ, कार्य की दशाओं और सम्पूर्ण रोजगार के प्रति एक संश्लेषण की तरह माना गया है।''

मनोबल की उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि–"मनोबल शब्द वैयक्तिक और सामूहिम मनोबल सम्मिलित है।'' मनोबल वह उत्साह, अनुभूति और साहस है जिससे व्यक्ति अथवा समुदाय प्रेरित होकर अधिक कार्य करते हैं। मनोबल कर्मचारी की शक्ति, विश्वास, स्वाभिमान व लगन अथवा उत्साह का प्रतीक है। मनोबल में उच्च और निम्न दोनों ही तरह के मनोबल सम्मिलित होते है।

मनोबल की विशेषताएँ
Characteristics of Morale

मनोबल के अर्थ और उसकी परिभाषाओं के आधार पर इसकी विशेषताओं को निम्नानुसार रूप से रखा जा सकता है

1. **व्यक्तिगत एवं सामूहिक**–मनोबल में व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों तरह के मनोबल सम्मिलित हैं। वैयक्तिक मनोबल उस दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है जो एक कर्मचारी अपनी संस्था के प्रति रखता है। दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय उस संतुष्टि से है जो कर्मचारी को अपने कार्य से तथा कार्य करने वाले समूह का सदस्य होने से प्राप्त होती है। सामूहिक मनोबल का दृष्टिकोण अधिक व्यापक है। यह कार्य करने वाले सम्पूर्ण समूह की संतुष्टि पर बल देता है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि वैयक्तिक मनोबल द्वारा ही सामूहिक मनोबल का आविर्भाव तथा उत्पत्ति होती है।

2. **उच्च एवं निम्न**–मनोबल दो भागों में वर्गीकृत है–(क) उच्च एवं (ख) निम्न । उच्च मनोबल को अभिव्यक्त करने के लिए सामान्यतः समूह–भावना (Team-Spirit), जोश या उत्साह, टिके रहने का गुण, नैराश्य–प्रतिरोध आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में, यदि व्यक्ति या समूह बिना विवाद या कलम की ठीक भावना से या जोश से अपना कार्य सम्पादित करते हैं और उनमें कार्य करने की चाह अथवा उत्सुकता परिलक्षित होती है तो मनोबल उच्च माना जाता है। निम्न मनोबल को अभिव्यक्त करने के लिए सामान्यतः विवाद, उदासीनता, निराशा आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। उच्च मनोबल तस्वीर के घनात्मक (Positive) या सकारात्मक पहलू को और निम्न मनोबल, ऋणात्मक (Negative) या नकारात्मक पहलू को अभिव्यक्त करता है।

3. **मानसिक अवस्था** – मनोबल व्यक्ति की और समूहों की मानसिक अवस्थओं का सूचक है।

4. **मानसिक तत्व** – मनोबल, उत्साह, भावना, विश्वास, आशा आदि मानसिक तत्वों पर आधारित है।

5. **सम्पूर्ण वातावरण**–मनोबल किसी समुदाय समाज के सदस्यों में व्याप्त समग्र वातावरण को अभिव्यक्त करता है।
6. **सामूहिक उद्देश्य**–मनोबल किसी सामूहिक उदेश्य की प्राप्ति के लिए किसी व्यक्ति–समूह की दृढ़तापूर्वक ओर निरन्तर एक साथ काम करने की इच्छा भावना या रूचि है।

मनोबल की विशेषताओं पर अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रयुक्त किये हैं। डेल योडर का विचार है कि अधिकांश नियोक्ता ..... (Prouletivity) और गुण (Onlin) को उचच मनोबल के साथ संबंधित करते है। ताकि कर्मचारियों के मनोबल का ..... एवं संरक्षण संभव हो सके। डेल योटर ने उच्च मनोबल को कर्मचारी या श्रमिक समूह की उस मस्तिष्कावस्था से संबंधित किया है जो समूह की गतिविधियों और समूह के कार्यो के प्रति उत्साही व मैत्रीपूर्ण दृष्टिगत होती है। इसके विपरीत, यदि समूह संतुष्ट, आलोचक क्षुब्ध अथवा निराशावादी हो तो यह उसके निम्न मनोबल का सूचक है। कीथ डेविस का अभिमत है कि उच्च मनोबल एक सुप्रबन्धित संगठन का प्रतीक है जिसे उकसाया अथवा खरीदा नहीं जा सकता है। निम्न मनोबल के सूचक तत्त्व हड़तालें, शिथिल कार्य, अनुपस्थिति आदि होते हैं।

मनोबल का महत्त्व
Morale Its Importance

प्रत्येक संगठन या संस्था में मनोबल का महत्त्व या भूमिका निर्विवाद है

1. **मनोबल संस्था का मानसिक बल** – मनोबल प्रत्येक संगठन या संस्था का मानसिक बल है, उसका आवश्यक तत्त्व है। उच्च मनोबल संगठन को सफलता की ओर अग्रसर करता है जबकि निम्न मनोबल संस्था के विकास में बाधक होता हैं। एक सैनिक संस्थान मनोबल के आधार पर ही पराजय को विजय में बदल सकता है। व्यापारिक तथा प्रशासनिक संगठनों में मनोबल वह हेल्प–बिन्दु है जिससे प्रशासन की सभी रेखाएँ प्रसारित होती है।
2. **प्रशासकीय व्यवहार का प्रेरक** – मनोबल प्रशासकीय व्यवहार का प्रेरक है साथ ही उसका संचालक भी। प्रशासन के विभिन्न सिद्धान्तों का संगठन में जिस रूप में पालन किया जाता है वह उसके मनोबल पर अपना प्रभाव डालता है। संगठन को निर्देशित, पथ–प्रदर्शित एवं पर्यवेक्षित करने के लिए सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा जो कदम उठाये जाते हैं, उनका संगठन के मनोबल पर गहरा प्रभाव पड़ता है।
3. **संगठन की जीवन शक्ति** – मनोबल को एक प्रकार से संगठन की जीवन–शक्ति कह सकते हैं जिसके बिना समस्त प्रशासकीय क्रियाएँ निर्जीव रूप में संचालित होती रहती हैं। यदि संगठन को परम्परावादी सिद्धान्तों के आधार पर संचालित किया जाये तो यह संभव नहीं है कि उसके सभी सदस्यों का वांछित सहयोग प्राप्त किया जा सके। आजकल बड़े स्तर के संगठनों में यांत्रिक विचारधारा को निराधार एवं प्रभावहीन माना जा चुका है।
4. **प्रशासन का प्रभावी रूप से संचालन**–वर्तमान में यह समझा जाता है कि संगठन तथा सरकार एक मानवीय संस्था है जिसे केवल औपचारिक प्रबन्ध एवं सिद्धान्तों के आधार पर संचालित नहीं किया जा सकता है। इसके लिए मानवीय दृष्टिकोण, उत्साह एवं स्वामिभक्ति आवश्यक है। प्रशासकीय कार्य मूल रूप से एक मानवीय कार्य है और इससे सम्बन्धित सभी समस्याएँ मानवीय मनोदशा एवं बौद्धिक चेतना की समस्याएँ हैं। दूसरे शब्दों में प्रशासन का स्वरूप उसके कर्मचारियों एवं अधिकारियों के मनोबल व भावनात्मक तुष्टि के आधार पर निर्धारित होता है। जिस संगठन के पदाधिकारियों को अपने कार्य से संतोष रहता है वे अपेक्षाकृ त संगठन को अपना अधिक योगदान देते हैं। इस प्रकार जिस कर्मचारी के कार्य का उचित मूल्यांकन किया जाता है तथा जिसके व्यवहार की उचित प्रशंसा की जाती है, वह कई बार आशातीत रूप में अपनी योग्यताओं से संगठ्न को लाभन्वित करता है। एक मानवीय क्रिया होने के नाते प्रशासकीय संगठन की

सफलता उसके सेवीवर्ग के संतोष–असंतोष, दुःख, ग्लानि, प्रशंसा तथा ऐसे ही अन्य अनेक भावों तथा प्रवृत्तियों द्वारा निश्चित की जाती है। जिस देश के लोक सेवक अपने कार्य में पूरा उत्साह दिखाते हैं और देशभक्तिपूर्ण भावनाओं से अभिप्रेरित रहते हैं उस देश का प्रशासन निश्चित रूप से प्रभावी रूप में संचालित होता है। ब्रिटिश नागरिक सेवा के सम्बन्ध में जो प्रशंसात्मक वाक्य लिखे गये हैं उन सब के पीछे सेवीवर्ग का उच्च मनोबल ही कार्य कर रहा है। यदि किसी संगठन में योग्य व्यक्तियों को भर्ती किया जाये, प्रशिक्षण द्वारा उनकी क्षमताओं को परिष्कृत कर दिया जाये, साथ ही सेवीवर्ग के साथ उचित व्यवहार किया जाए, तो उस संगठन के असफल होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

मनोबल के प्रभाव
Effects of Morale

आर. सी. डेविस (R.C. Davis) के अनुसार उच्च मनोबल से किसी संस्था व उपक्रम में निम्नांकित प्रभाव उत्पन्न होते है

(1) संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु स्वैच्छिक सहयोग।
(2) श्रेष्ठ अनुशासन और नियमों, व्यवस्थाओं तथा आदेशों का स्वैच्छिक अनुपालन।
(3) संगठन तथा नेतृत्व के प्रति वफादारी।
(4) संगठन के प्रति गौरव।
(5) कर्मचारियों की पहल (Initiative) का उचित प्रभावपूर्ण प्रदर्शन।
(6) सुदृढ़ संगठनात्मक क्षमता या कठिन समय में संगठन को उबारने की चेष्टा और योग्यता।
(7) संगठन तथा कार्यों में कर्मचारियों की बढ़ी हुई रुचि।

जब कर्मचारियों का मनोबल गिरा हुआ होता है तो संगठन में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं। यदि कर्मचारी उदासीन है, झगडालू प्रकृति के हैं, अनुशासनहीन हैं, कार्य के प्रति रुचि नहीं रखते हैं, आलोचक और विरोधी हैं तो यही माना जाता है कि कर्मचारियों का मनोबल निम्न है। डॉ. विलियम आर स्प्रीगल (William R. Spriegal) ने निम्न मनोबल के प्रभाव और परिणाम निम्नाकित बतलाये हैं

(1) उत्पादकता में कमी आती है। (2) अनुपस्थितियाँ बढ़ती हैं। (3) नियमों तथा पर्यवेक्षण कार्य में विरोध उत्पन्न होता है। (4) शिकायतों, परिवेदनाओं आदि में वृद्धि होती है। (5) कर्मचारियों में मनमुटाव होता है। (6) श्रमिकों की बदली में वृद्धि होती है। (7) दुर्घटनाएँ बढ़ती हैं। (8) संगठन के कार्य और व्यवहार में शिथिलता आती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनोबल एक संस्था का प्राण है, उसकी जीवन शक्ति है। कीथ डेविस ने मनोबल के महत्त्व को इंगित करते हुए ठीक ही लिखा है कि–''जिस प्रकार औरत की शक्ति का अनुमान कभी भी कम नहीं लगाना चाहिए उसी प्रकार मनोबल की शक्ति का अनुमान भी कम नहीं लगाना चाहिए।

मनोबल के परिणाम
Consequences of Morale

मनोबल प्रत्येक संगठन का मानसिक बल है, उसका आवश्यक तत्त्व है। उच्च मनोबल संगठन को सफलता की ओर अग्रसर करता है। सैनिक संगठन मनोबल के आधार पर हार को जीत में बदल सकता है। नेपोलियन कहा करता था कि युद्ध में 75 प्रतिशत विजय और पराजय मनोबल द्वारा ही निश्चित की जाती है। व्यापारिक और प्रशासनिक संगठनों में मनोबल वह केन्द्र बिन्द है जिससे प्रशासन की सभी रेखाएँ प्रसारित की जाती हैं। डॉ. एल. डी. हाइट के अनुसार उच्च मनोबल स्वामिभक्ति सहयोग और एकजुट हो कर काम करने की भावना को प्रोत्साहित करता है। मनोबल इस बात पर निर्भर है कि कर्मचारियों को अपने काम संगठन काम करने की दशाओं,

अधिकारियों, सहयोगियों आदि से कितना सहयोग और संतोष प्राप्त होता है। उच्च मनोबल के फलस्वरूप संगठन को निम्नांकित लाभ प्राप्त होते हैं

(1) कर्मचारियों को दायित्व निर्वाह की प्रेरणा – कर्मचारी अपने दायित्वों का पालन करने में प्रसन्न होते हैं जो जटिल से जटिल कार्य से भी नहीं घबराते। संगठन के कार्यों का सफल संचालन उन्हें संतोष देता है। मनोबल से हीन कर्मचारी हर काम को बाधा मानते हैं।

(2) कर्मचारियों में सहयोगी भावना का विकास–संगठन में मनोबल का ऊँचा स्तर कर्मचारियों में सहयोगी भावना का विकास करता है। सामूहिक कार्य (Team Wrok) और मनोबल समानार्थक होते हुए भी एक नहीं हैं। मनोबल का अर्थ एक समूह के विभिन्न दृष्टिकोणों से है जबकि सामूहिक कार्य (Team Work) एक छोटे समूह द्वारा घनिष्ठता के साथ और समन्वित रूप में किये गये कार्य की ओर संकेत करता है। श्रेष्ठ मनोबल सामूहिक कार्य की स्थापना का कारण बन जाता है, अतः यह माना जाता है कि कर्मचारी पूरी तरह मिल–जुलकर काम कर सकेंगे किन्तु यह भी संभव है कि उच्च मनोबल के होते हुए भी समुदाय के लोग टीम भावना से कार्य न कर सकें। कर्मचारियो में संगठन के प्रति गौरव की अनुभूति–जिस संगठन के कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा होता है उनमें अपने संगठन के प्रति गौरव की अनुभूति होती है जिसके फलस्वरूप वे संगठन के लक्ष्यों को अपना लक्ष्य मानकर चलते है।

(4) कर्मचारियों की अनुपस्थिति पर नियन्त्रण – उच्च मनोबल के फलस्वरूप संगठन में कर्मचारियों की अनुपस्थितियाँ कम होती है। बिना नोटिस के हड़ताल–घेराव आदि नहीं होते और न ही कर्मचारी प्रायः स्वेच्छा से त्यागपत्र देते हैं।

(5) कर्मचारियो का आंदोलनों से अप्रभावित रहना–संगठन के कर्मचारियों में जब उच्च मनोबल होता है तो वे इस प्रकार के आदोलनों से प्रभावित नहीं होते जैसे कम काम करो, नियमानुसार काम करो, सीट पर बैठे रहो आदि। कर्मचारियों की शिकायतें भी कम होती हैं और वे हिंसात्मक प्रदर्शनों की ओर उन्मुख नहीं होते।

(6) नेतृत्व में विश्वास जाग्रत करना–वास्तव में उच्च मनोबल समूह के उद्देश्य तथा नेता के नेतृत्व में विश्वास जाग्रत करता है, सदस्यों का एक दूसरे के प्रति सहयोग बढ़ता है, संगठन में कार्यकुशलता लाता है और सदस्यों के शारीरिक एवं भावात्मक स्वास्थ्य की अभिवृद्धि करता है।

(7) नेतृत्व के अभाव में अनेक दोष उजागर होना–जब कर्मचारियों का मनोबल गिरा हुआ होता है तो संगठन में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं जैसे कर्मचारी अपना काम पसन्द नहीं करते एवं उनमें एक दूसरे से मिल–जुलकर काम करने की भावना नहीं रहती, अनुपस्थितियाँ अधिक होती हैं, बिना नोटिस के हड़ताल–घेराव आदि होते रहते हैं, कर्मचारी विभिन्न प्रकार के आंदोलनों में रुचि लेते हैं आदि। मनोबल का अभाव या कमी संगठन को खोखला कर देता है। ऐसे में उसकी सफलता भी संदिग्ध हो जाती है।

मनोबल को प्रभावित करने वाले तत्त्व
Factors Affecting Morale
अथवा
मनोबल के निर्धारक तत्त्व या घटक
Morale Determinants

किसी भी संस्था अथवा उपक्रम में मनोबल को प्रभावित करने वाले अनेक तत्त्व होते हैं। प्रायः कहा जाता है कि मनोबल को प्रत्येक चीज प्रभावित करती है–कुछ की तीव्रता अधिक होती है, कुछ की सामान्य और कुछ की बहुत ही कम फ्लिप्पो (Flippo) ने मनोबल को प्रभावित करने वाले घटकों में निम्नांकित को सम्मिलित किया है

(1) वेतन (Pay), (2) सुरक्षा (Security), (3) किये गये कार्य की प्रसिद्धि (Credit for Work Done), (4) कार्य–दशाएँ (Working Conditions), (5) उचित एव योग्य नेतृत्व (Fair and Competant Leadership), (6) अवसर

(Opportunity), (7) सहयोगियों की अनुकूलता (Congeniality of Associates), (8) कर्मचारी–लाभ (Employee Benefits), (9) सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Status) तथा (10) उचित तीव्रता (Worthwhile Activity)

प्रायः मनोबल को प्रभावित करने वाले या उसके निर्धारक तत्त्वों में निकटतम पर्यवेक्षण (Immediate Supervision), संगठन के कार्य (Company Operations), व्यक्तिगत पुरस्कार (Personal Reward), कार्य–सन्तुष्टि (Job Satisfaction), कार्य की मनोवैज्ञानिक दशाएँ (Psychological Condition of Work, और कार्य के सम्बन्ध (Work Relations), संगठन में एकीकरण (Integration in the Organisation) आदि को सम्मिलित किया जाता है।

मनोबल को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्व–किसी भी संगठन के सदस्यों के मनोबल को प्रभावित करने में निम्नलिखित तत्वों की भी प्रभावपूर्ण भूमिका रहती है

प्रथम, संगठन के सदस्यों के मनोबल के पीछे उसका स्तर एवं स्थिति भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। एक फैक्ट्री में कार्य करने वाले उन मजदूरों में, जो प्रभावशाली संघों के नेता हैं या सदस्य हैं, एक विशेष प्रकार का मनोबल होता है। पारिवारिक समस्याएँ, धार्मिक एवं सामाजिक संस्थाओं के उत्तरदायित्व एवं मजदूर संघों आदि की माँग कुछ ऐसे तत्त्व है जो बाह्य होते हुए भी मनोबल को प्रभावित करते हैं।

ये संघ एवं संस्थाएँ आवश्यक रूप से संगठन के मनोबल को नीचे नहीं गिराती किंतु कई बार ये उसके विकास में सहायक होती हैं। तीसरे, मनोबल को प्रभावित करने वाले कुछ तत्त्व ऐसे हैं। जो प्रबन्ध के अधिकार क्षेत्र में होते हैं। जैसे संगठन की नीतियाँ, प्रक्रियाएँ, लक्ष्य, संचार–व्यवस्था आदि। इनके अतिरिक्त संगठन में एक अच्छा नेतृत्व, संतोषजनक संगठनात्मक व्यवस्था, आदेश की एकता, पर्याप्त पुरस्कार और अनुशासन, उच्च अधिकारी का अधीनस्थ के प्रति दृष्टिकोण आदि मिलकर संगठन में मनोबल को निर्धारित करते हैं। कई बार अधीनस्थ अधिकारियों के मनोबल पर सच का बहुत कम प्रभाव पड़ता है जो किया जा रहा है, किन्तु उस तरीके का अधिक प्रभाव पड़ता है जो नहीं किया जा रहा है। यदि अधीनस्थों को यह शक हो जाये कि उच्च अधिकारी उनके व्यवहार तथा कार्य के लक्ष्यों पर विश्वास नहीं करता तो मनोबल निम्न स्तर का होगा। हेमैन के शब्दों में–''इसमें संदेह नहीं कि अधीनस्थ का मनोबल प्रबन्धक के प्रतिदिन संम्पर्क द्वारा दृढता से प्रभावित होता है। प्रबन्धक जिस ढंग से पर्यवेक्षण, निर्देशन, नेतृत्व एवं सामान्य दृष्टिकोण प्रदर्शित करेगा उसके आधार पर अच्छा या बुरा मनोबल बन जायेगा।''

मनोबल के अंग
Components of Morale

लेटन एव सिलिण्डर (Laighton and Schelinder) ने लिखा है कि–''मनोबल एक भावनात्मक एवं मानसिक स्थिति है जो कार्य करने की इच्छा को प्रभावित करती है और इस इच्छा से व्यक्तिगत एवं संगठनात्मक उद्देश्य प्रभावित होते हैं।'' इन विद्वानों का अभिमत है कि कर्मचारी मनोबल (Employee Morale) निम्नांकित अंगों के संयोजन का परिणाम है

(1) यह क्या है? (What it is?) – यह मानव–मस्तिष्क की एक अभिवृत्ति है, कार्य की प्रवृत्ति है, कल्याण की एक स्थिति है और एक भावनात्मक दबाव है।

(2) यह क्या करता है? (What it does?) – यह उत्पादन, किस्म, लागत, सहयोग, उत्साह, अनुशासन, स्वतः प्रेरणा और सफलता सम्बन्धी तत्त्वों को प्रमुखता से प्रभावित करता है।

(3) यह कहाँ रहता है? (Where it resides?) – यह व्यक्तियों और सहयोगियों के मस्तिष्क एवं भावनाओं तथा उनकी सामूहिक क्रिया–प्रतिक्रियाओं में निवास करता है।

(4) यह किसको प्रभावित करता है? (Whom does it effect?) – यह निकटतम सहयोगियों, अधिकारियों, समाज तथा उपभोक्ताओं को प्रभावित करता है।

(5) यह क्या प्रभावित करता है? (What does it effect?) – यह कार्य के प्रति अभिरुचि, प्रतिष्ठान के सर्वोत्तम हित में सहयोग, व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि में सहयोग आदि को प्रभावित करता है।

मनोबल कैसे विकसित करें?

How to Develop Morale?

किसी भी संगठन में उच्च मनोबल की स्थापना के लिए विभिन्न उपाय सुझाये गये हैं। इनमें से कतिपय निम्नांकित हैं

(1) **संगठन के उद्देश्य एवं लक्ष्य का ज्ञान**

(2) **नीति–निर्माण में भाग लेने की भावना**

(3) **कार्य की वाँछनीयता**

(4) **उच्चाधिकारी में विश्वास**

(5) **भावनाओं का विकास**

(6) **प्रेरणादायक नेतृत्व**

(7) **कार्य की उचित शर्ते**

अतः कर्मचारियों के मनोबल बढ़ाने से पूरे संगठन को लाना होता है इसलिए किसी भी संगठन की प्रगति के लिए मनोबल बहुत आवश्यक है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. लोक सेवाओं में मनोबल का क्या महत्त्व है? इसका निर्माण किस प्रकार किया जाता है।
2. मनोबल से आप क्या समझते हैं? मनोबल को निर्धारित करने वाले तत्वों तथा पद्धतियों का वर्णन कीजिए।
3. मनोबल क्या है? इसके प्रकार तथा अंगों का वर्णन कीजिए।

अध्याय - 4

हिटले परिषदें

Whitley Councils

प्रशासन में कार्य करने वाले क्रमिकों की बहुत सारी समस्याएँ होती हैं। वे अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए सरकार को भिन्न–भिन्न माध्यमों से सूचित करते हैं। यदि समस्याएँ नहीं सुलझती हैं तो वे धरना, प्रदर्शन तथा हड़ताल आदि का सहारा लेते है। अतः सरकार व कर्मचारियों के मध्य सम्बन्ध एक महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीनकाल में सरकार, कर्मचारियों से यह उम्मीद करती थी कि वे राज्य के प्रति पूर्ण वफादारी का परिचय देंगे। सरकार, कर्मचारियों से कोई सलाह किए बिना सेवा शर्तों को एक–तरफा कर मनमाने ढंग से मामलों को तय कर देती थी। आधुनिक लोकतन्त्र में ऐसा नहीं है।

सरकारें आजकल प्रबन्धकीय निर्णयों में कर्मचारियों को शामिल कर उनके विचारों को महत्त्व देती है। यह प्रशासकीय कार्य–कुशलता के लिए महत्वपूर्ण भी है क्योंकि ये कर्मचारी ही सरकार के कार्यक्रमों तथा नीतियों को लागू करते हैं। यह अनुभव किया गया है कि यदि कर्मचारी काम छोड़कर हड़ताल करते हैं तो उन्हें समझने तथा समझाने के लिए संयुक्त परामर्श का रास्ता निकालना होगा। इसलिए इस बात की आवश्यकता महसूस की गई कि एक संयुक्त परामर्शदात्री संस्था का होना जरूरी है जिसमें सरकार व कर्मचारी दोनों के प्रतिनिधि भाग ले सकें।

इस दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है, कि सरकार तथा कर्मचारियों के बीच विवादों का समाधान बातचीत द्वारा ही कर लिया जाए। वार्ता के लिए उपयुक्त यन्त्र की व्यवस्था की जाए जिसमें दोनों पक्ष एक दूसरे के प्रति सद्भाव तथा सहयोग से काम लें। इस हेतु सामूहिक सौदेबाजी (Collective Bargaining), पंचनिर्णय (Arbitration) तथा हिटले परिषदों को अपनाया जाता है। हिटले परिषदों की प्रणाली में प्रबन्ध और कर्मचारियों के प्रतिनिधियों की एक परिषद् बना ली जाती है जो दोनों पक्षों के मध्य स्थित विवादों को दूर करने में सहायता देती है।

हिटले परिषदों का प्रारम्भ (The Origin of Whitley Councils)

1916 में ब्रिटिश सरकार ने गैर–सरकारी उद्यमों के श्रमिकों और मालिकों के बीच सम्बन्धों में स्थायी सुधार लाने के लिए सुझाव देने हेतु तत्कालीन सांसद जे. एच. हिटले (J.H. Whitley) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने ऐसी परिषदों के गठन का सुझाव दिया जिनमें विवादों का निपटारा करने के लिए कर्मचारियों तथा मालिकों, दोनों के प्रतिनिधि हो। नागरिक सेवकों के विभिन्न संगठनों ने इस सुझाव का समर्थन किया और हिटले द्वारा प्रस्तावित परिषदों की स्थापना की माँग की। सरकार ने यह माँग 8 अप्रैल, 1919 को स्वीकार कर ली और उसके बाद ग्रेट ब्रिटेन के सरकारी विभागों में हिटले परिषदों की स्थापना की गई।

हिटले परिषदों का अर्थ एवं उद्देश्य (Meaning and Objectives of Whitley Councils)

डॉ. एल. डी. हाइट के मतानुसार, "हिटले परिषदें स्वतन्त्र, सभापतिविहिन तथा अनिश्चित कार्यक्षेत्र युक्त संयुक्त चर्चा मण्डल हैं।'' उन्होंने अन्य स्थान पर लिखा है कि "वर्तमान पीढ़ी में ब्रिटिश नागरिक सेवा में जो सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है वह सम्भवतः हिटले परिषदों की स्थापना ही है। इन निकायों में सरकारी पक्ष और कर्मचारी पक्ष के प्रतिनिधि समान संख्या में होते हैं तथा ये निकाय अनेक विवादपूर्ण समस्याओं के समाधान तथा सुलह की बातचीत के लिए कर्मचारियों के विचारों और आलोचनाओं को प्रस्तुत करने वाले मूल्यवान अभिकरण सिद्ध हुए हैं।''

हिटले परिषदें मुख्यतः तीन स्तरों पर होती हैं–राष्ट्रीय, विभागीय और जिला एवं कार्यालय स्तर। प्रो. स्टाल के मतानुसार इन सभी स्तरों की परिषदों की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनमें सरकार और नागरिक सेवकों का समान प्रतिनिधित्व होता है। स्नाइडर (Schneider) की मान्यता है कि ये परिषदें ब्रिटिश लोकसेवा की सुस्थापित और मूलभूत विशेषताएँ बन गई हैं।

ये परिषदे ऐसा पत्र प्रस्तुत करती हैं जिसके द्वारा सरकारी सेवीवर्ग नीति के प्रायः सभी पहलुओं पर विचार किया जाता है। और विरोधी हितों के बीच संघर्ष मैत्रीपूर्ण बन जाता है।

हिटले परिषदों की स्थापना मुख्यतः इन उद्देश्यों के लिए की जाती है–प्रथम नियोक्ता राज्य एवं लोकसेवकों के बीच अधिकार सहयोग स्थापित करना ताकि कार्यकुशलता लाई जा सके और कर्मचारियों के हितों की रक्षा की जा सके, दूसरे कर्मचारियों की शिकायतों को दूर करने के लिए एक यन्त्र की व्यवस्था करना तथा तीसरे विभिन्न लोकसेवाओं के अनुभवों और विचारों को एक स्थान पर जुटाना।

हिटले परिषद केवल दो हजार पौण्ड तक वार्षिक वेतन पाने वाले गैर–औद्योगिक कर्मचारियों की समस्याओं से सम्बन्धित है। अपने लक्ष्य और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ये हिटले परिषदें अनेक कार्य सम्पन्न करती हैं। इनके कुछ प्रमुख कार्य निम्नलिखित है।

(1) ये कर्मचारियों के विचारों और अनुभवों का उपयोग करने के लिए सर्वोत्तम उपायों की व्यवस्था करती है।

(2) परिषदों द्वारा कर्मचारी वर्ग को उनकी सेवा की शर्तों के निर्धारण और निरीक्षण में अधिक भाग लेने का अवसर मिलता है।

(3) ये परिषदें कर्मचारियों की सेवा की शर्तों का नियमन करने वाले सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करती है।

(4) ये लोकसेवकों को आगे शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं तथा उन्हें उच्चतर प्रशासन और संगठन का प्रशिक्षण देती हैं।

(5) ये कार्यालय में संगठनात्मक सुधार सुझाती है और इस सम्बन्ध में कर्मचारियों के सुझावों पर विचार का अवसर देती हैं।

(6) ये लोक सेवकों सम्बन्धी विधि–निर्माण के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करती है।

हिटले परिषदों का संगठन (The Organisation of Whitley Councils)

हिटले परिषदों का संगठन पूर्वोक्त तीन स्तरों में होता है। ये राष्ट्रीय परिषद्, विभागीय परिषद् और जिला या क्षेत्रीय समितियो के रूप में संगठित होती है । यद्यपि इन स्तरो के बीच पद–सोपान का सम्बन्ध नही है फिर भी यह व्यवस्था की जाती है कि राष्ट्रीय परिषद् विभागीय परिषदों के संविधान को स्वीकार करे। विभागीय परिषद् उन विषयों को राष्ट्रीय परिषद के पास भेज देती है जो या तो राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध दिखाई देते हैं अथवा जो सम्बन्धित अधिकार क्षेत्र से बाहर है। विभागीय परिषदों के नीचे जिला तथा प्रादेशिक समितिया होती है जो देश के सभी कर्मचारियों की स्थानीय समस्याओं से सम्बन्ध रखती हैं।

राष्ट्रीय परिषद् में 54 सदस्य होते हैं। इनमें आधे सरकारी पक्ष के होते हैं जिनकी नियुक्ति सरकार द्वारा लोकसेवकों अथवा अन्य उच्च अधिकारियों में से की जाती है। इसमें राजकोष तथा श्रम मन्त्रालय का कम से कम एक प्रतिनिधि अवश्य होता है। परिषद् के शेष सदस्य कर्मचारी संगठनों द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। यह राष्ट्रीय परिषद् अपनी सुविधा के लिए स्थायी समितियाँ, विशेष समितियाँ, पदक्रम समितियाँ आदि नियुक्त करती है तथा उन्हें शक्ति हस्तान्तरित करती है।

राष्ट्रीय परिषद् के सदस्यों का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। वे तब तक अपने पदों पर बने रहते हैं जब तक कि स्वयं त्यागपत्र न दें अथवा सेवानिवृत्त न हो जाएँ। इसमें एक सभापति और एक उपसभापति होता है। सभापति प्रायः सरकारी पक्ष का और उपसभापति कर्मचारी पक्ष का होता है। परिषद् इन दोनों पक्षों में से सचिव नियुक्त करती है।

विभागीय मामलों के लिए विभागीय परिषदें नियुक्त की जाती हैं जिनमें सरकारी तथा कर्मचारी पक्ष के आधे–आधे सदस्य होते हैं। सामान्यतः एक विभाग में एक ही विभागीय परिषद् स्थापित की जाती है, किन्तु बड़े विभाग में एक से अधिक परिषदें भी स्थापित की जा सकती हैं। सरकारी पक्ष के सदस्यों की नियुक्ति विभागाध्यक्ष अथवा मंत्री द्वारा होती है और कर्मचारी पक्ष के प्रतिनिधि उस विभाग सम्बन्धी कर्मचारी संगठन द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। स्थापना सम्भाग का कोई सदस्य इस परिषद् का सचिव होता है। विभागाध्यक्ष को इसका अध्यक्ष बनाया जाता है। एक से अधिक विभागों की परिधि में आने वाले मामलों की रिपोर्ट विभागीय परिषद् द्वारा राष्ट्रीय परिषद् को दी जाती है। विभागीय हिटले परिषदों की संख्या 80 है।

जिला अथवा क्षेत्रीय समितियाँ विशुद्ध रूप से कर्मचारियों की स्थानीय समस्याओं को सुलझाती हैं। इनका संगठन भी विभागीय परिषदों की भाँति किया जाता है।

परिषदों की कार्य–प्रणाली (Procedure and Work of the Councils)

राष्ट्रीय परिषद् की बैठकें तीन माह में एक बार होना अनिवार्य है। वैसे आवश्यकतानुसार इसकी अतिरिक्त बैठकें कभी भी बुलाई जा सकती है। परिषद् के महत्त्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन हेतु समितियाँ होती हैं। इन समितियों तथा परिषदों की बैठकों की अध्यक्षता प्रायः सरकारी पक्ष के प्रतिनिधि द्वारा की जाती है। उपाध्याक्ष कर्मचारी वर्ग का होता है। परिषद् के निर्णय मतदान के आधार पर नहीं होते वरन सरकारी पक्ष और कर्मचारी पक्ष दोनों विभाजनहीन रूप से मत प्रकट करते है। दोनों ही पक्षों को स्वीकृत होने के बाद ही कोई निर्णय मान्य बनता है। परिषद् के समस्त निर्णयों पर अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की स्वीकृति ली जाता है। इसक बाद वे कार्यरूप में परिणत किए जाते हैं। विभागीय परिषदों की कार्यप्रणाली भी राष्ट्रीय परिषद की कार्य–प्रणाली के समकक्ष होती है।

परिषदों की सत्ता पर सीमाएँ (Limitations on the Authority of Councils)

(1) हिटले परिषदें केवल परामर्शदाता निकाय हैं। इनके सभी निर्णय मन्त्रिमण्डल के सम्मुख रखे जाते हैं जो इन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की अन्तिम शक्ति रखता है।

(2) ये परिषदे केवल दो हजार पौण्ड प्रतिवर्ष वेतन पाने वाले पदाधिकारियों के वेतन आदि के बारे में ही विचार कर सकती है। इनमें उच्च पदाधिकारियों के वेतन के सम्बन्ध में विचार करने की शक्ति नहीं होती।

(3) परिषदों के होते हुए भी व्यवहार में कर्मचारियों की अनेक समस्याएँ परिषदों का सहारा लिए बिना प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा सुलझाई जाती हैं।

(4) इन परिषदों द्वारा प्रायः गम्भीर और महत्त्वूपर्ण मामलों पर विचार नहीं किया जाता वरन् ये छोटी–मोटी समस्याओं का समाधान ढूँढने में ही लगी रहती है।

(5) ये केवल सामान्य हितों पर विचार करती है। व्यक्तिगत मामलों पर विचार नहीं करतीं। किसी श्रेणी अथवा सेवा विशेष के व्यक्तिगत प्रश्न प्रायः प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा ही निपटाए जाते हैं।

परिषदों का मूल्यांकन (Evaluation of the Councils)

हिटले परिषदों की उपयोगिता एवं उपलब्धियों के बारे में अलग–अलग मत प्रकट किए गए हैं । उग्र समाजवादी एवं श्रम सगठनवादियों ने इनकी कटु आलोचना का है क्याकि उनकी राय से ये परिषदें श्रमिकों की वर्ग–चेतना को धूमिल बनाती हैं और उनकी सैनिक प्रवृत्ति पर कुठाराघात करती हैं। उच्चवर्गीय लोक–सेवाएँ भी हिटले परिषदों को सहानुभूति एवं समर्थन की नजर से नहीं देखती। कारण यह है कि इस वर्ग के कर्मचारियों का

उच्चतम अधिकारियों से सीधा सम्पर्क रहता है। इसलिए अनुकूल सेवा की शर्ते निर्धारित कराने के लिए उन्हें इन परिषदो की आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त उन्हें ऐसा लगता है कि हिटले परिषदें अधीनस्थ कर्मचारियों की दशाओं के बारे में निर्णय लेने के उनके अधिकार को क्षति पहुँचाएँगी। फलतः टॉमलिन आयोग के सम्मुख साक्षी देते समय कुछ विभागों के अध्यक्षों द्वारा हिटले परिषदों को समाप्त करने का जोरदार समर्थन किया गया।

हिटले परिषदों की सफलता और असफलता बहुत कुछ इनके प्रति अधिकारियों और कर्मचारियों के दृष्टिोण पर निर्भर रही है। जहाँ कर्मचारियों तथा अधिकारियों ने सहकारिता की भावना से कार्य किया वहाँ इन परिषदों को सफलता प्राप्त हुई किन्तु जहाँ उच्च अधिकारियों ने उन्हें अपने निहित विशेषाधिकारों पर अतिक्रमण माना तथा कर्मचारियों ने बिना समर्पण के केवल प्राप्त करने का स्वार्थपूर्ण मार्ग ग्रहण किया वहाँ ये वॉछनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सकीं।

परिषदों की अनेक व्यावहारिक कमजोरियाँ होते हुए भी ये अधिकारियों और कर्मचारियों के बीच मैत्री भाव विकसित करने का आधार बनी हैं। परिषदों के मंच पर इन दोनों पक्षों के बीच अनौपचारिक विचारों के आदान–प्रदान से दोनों ने एक दूसरे को समझा है और इस प्रकार समस्याओं के निराकरण का मार्ग सुगम बना है। इन परिषदों की अधिक सफलता के लिए चार बातें आवश्यक है–

(क) राज्य कर्मचारी विभिन्न संघों और संस्थाओं में संगठित हो,

(ख) दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों का चयन सावधानीपूर्वक किया जाए,

(ग) कर्मचारियों के प्रतिनिधियों को सुचारु कार्य–संचालन के लिए आवश्यक सुविधाएँ दी जाएँ और उन्हें किसी भी विरोधी कार्यवाही के भय से मुक्त किया जाए,

(घ) अधिकारी एवं कर्मचारी दोनों पक्ष विवेक, नम्रता, अहंकारहीनता, स्वार्थहीनता, सहकारिता और सहयोग की भावना से ओत–प्रोत हो।

सारांश मे यही कहा जा सकता है कि विविध सीमाओं के होने के बावजूद कर्मचारियों के विवादों के समाधान करने में हिटले परिषदों की अहम् भूमिका रहती है।

सेवा विवाद सुलझाने के अन्य तरीके (Other Techniques of Solving Services)

हिटलें परिषदो के अलावा भी विवादों का समाधान करने के लिए मख्यतः निम्नलिखत चार प्रकार के तरीकों का सहारा लिया जाता है

(क) मिलाजुला विनियम यह विवाद से सम्बन्धित दोनों पक्षों के बीच होता है और किसी बाहरी व्यक्ति को बीच में लाने की आवयकता नहीं पड़ती है।

(ख) मध्यस्थताः इसके अन्तर्गत किसी ऐसे व्यक्ति या संस्था का सहयोग लिया जाता है जो दोनों पक्षो को स्वीकार होता है।

(ग) समझौता एवं पंच निर्णयः समझौता भी किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा कराया जाता है। पंच निर्णय का फैसला बहुत कुछ दोनों पक्षों पर बाध्यकारी होता है। कुछ पंच निर्णय वैकल्पिक भी हो सकते हैं।

(घ) विधिसम्मत न्यायः इसका सहारा तब लिया जाता है. जब अन्य तरीके कारगर सिद्ध नहीं होते।

पंच निर्णय के प्रतिकूल होने पर प्रभावित पक्ष उच्चतर अदालत में अपील कर सकता है। न्यायालय का निर्णय बाध्यकारी प्रकृति का हाता है। ये सभी तरीके परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार सेवा विवादों को सुलझाने के लिए अपनाए जाते हैं।

फ्रांस मे परिवेदना निवारण प्रक्रिया (Grievances Redress Procedure in France)

फ्रांस में चतुर्थ गणराज्य के अधीन केन्द्र सरकार के स्तर पर हिटले व्यवस्था को अपनाया गया। यहाँ लोकसेवाओं की एक सर्वोच्च परिषद् है जिसमें मन्त्रिमण्डल द्वारा नियुक्त 24 सदस्य होते हैं। इनमें से 12 सदस्यों की नियुक्ति लोकसेवा संघों की सिफारिश पर की जाती है। इस परिषद् की अध्यक्षता प्रधानमंत्री अथवा उप–प्रधानमंत्री करते हैं। इसका मुख्य कार्य सेवीवर्ग सम्बन्धी नीति, सेवा की शर्ते तथा विभागीय परिषदों के दृष्टिकोण और कार्य में समन्वय स्थापित करना होता है। ग्रेट–ब्रिटेन की भाँति फ्रांस में भी प्रायः प्रत्येक विभाग में ऐसी प्रतिनिधि परिषदें हैं जिनमें अधिकारी एवं कर्मचारी दोनों के प्रतिनिधि होते हैं। ये विभागीय परिषदें भर्ती की प्रक्रिया, कार्यकुशलता अभिलेख, पदोन्नति, अनुशासन एवं अन्य सेवीवर्ग सम्बन्धी प्रश्नों पर देख–रेख रखती हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका में परिवेदना समितियाँ (Grievance Committees in U.S.A)

अमेरिका में संघीय स्तर पर विभागीय अपील समितियाँ हैं। इन समितियों में विभागीय अध्यक्ष और लोकसेवा आयोग के एक अथवा अधिक प्रतिनिधि होते हैं। ये वर्गीकरण, पदोन्नति, वेतन आदि विषयों पर विचार–विमर्श करते रहते हैं।

स्टाफ परिषदें (Staff Councils)

अथवा

भारत में सुलह–वार्ता और विवादों के निपटारे की व्यवस्था (Machinery for Negotiations and Settlement of Disputes in India)

अथवा

भारतीय नागरिक–सेवा में हिटले परिषदे (Whitley Councils in Indian Civil Services)

भारत में हिटलेवाद को सैद्धान्तिक रूप में पूरा–पूरा समर्थन प्राप्त हुआ है। प्रशासकीय क्षेत्र में हिटले परिषदों की आवश्यकता को कर्मचारी–वर्ग की समितियों अथवा परिषदों के द्वारा पूरा करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि ये परिषदें बहुत कुछ ब्रिटिश हिटले प्रणाली पर ही आधारित है, तथापि, इनमें हिटलेवाद की आत्मा तथा मूल तत्त्व का अभाव है। भारत में ब्रिटिश राष्ट्रीय हिटले परिषदों की भाँति कोई अखिल भारतीय संगठन नहीं है। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य बात यह है कि कर्मचारियों के संघों को इन परिषदों में प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है।

भारत में कर्मचारी–वर्ग की समितियों की स्थापना के लिए 1954 में गृह मन्त्रालय द्वारा प्रयास किया गया। गृह मन्त्रालय ने विभिन्न मन्त्रालयों को इस सम्बन्ध में जो निर्देश दिए, उनके साथ ही प्रस्तावित समिति का विधान भी भेज दिया गया और मंत्रालयों को यह स्वतंत्रता दी गई कि वे इसमें आवश्यकतानुसार संशोधन कर सकते थे। 1957 में गृह कर्मचारी वर्ग समितियों का नाम बदलकर कर्मचारी वर्ग परिषदें रख दिया गया। वर्तमान भारत में प्रत्येक मन्त्रालय के अन्तर्गत दो कर्मचारी–वर्ग परिषदें है। प्रथम, वरिष्ठ कर्मचारी–वर्ग परिषदें (Senior Staff Councils) और द्वितीय, कनिष्ठ कर्मचारी वर्ग परिषदें (Junior Staff Councils)।

वरिष्ठ कमचारी–वर्ग परिषदे (Senior Staff Councils)–ये परिषदें द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के कर्मचारियों के लिए होती है। इनमें सरकार द्वारा मनोनीत व्यक्ति, शाखा के अधिकारियों के प्रतिनिधि सहायक, आशुलिपिक, लिपिक आदि सदस्य होते है। सरकारी प्रतिनिधियों को तत्सम्बन्धी मंत्रालय द्वारा उस विभाग के अधिकारियों में से ही नामजद किया जाता है। नामजद किए गए अधिकारी का स्तर अवर सचिव (Under-Secretary) से नीचा नहीं होना चाहिए। ये सरकारी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते है।

कर्मचारी वर्ग के प्रतिनिधियों को ग्रेट ब्रिटेन की भाँति कर्मचारी संघों द्वारा मनोनीत नहीं किया जाता है। इससे भिन्न ये प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से कर्मचारियों द्वारा चुने जाते हैं। दूसरी तथा तीसरी श्रेणी के विभिन्न कर्मचारी तीस के ऊपर एक के अनुपात से अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं। 1957 से पूर्व इन प्रतिनिधियों का चुनाव एक वर्ष के लिए किया जाता था, किन्तु बाद में इसकी अवधि दो वर्ष कर दी गई। इस चुनाव–व्यवस्था में यह खतरा रहता है कि किसी शाखा अथवा सेवा–विशेष को बहुत अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाता है, दूसरी को कम और अन्य को बिल्कुल भी नहीं। सम्बन्धित मन्त्रालय का सचिव अथवा सहायक–सचिव मन्त्री द्वारा इस परिषद् का सभापति चुना जाता है।

कनिष्ठ कर्मचारी–वर्ग परिषदें (Junior Staff Councils)–ये परिषदें चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों से सम्बन्ध रखती हैं। इनका सगठन वरिष्ठ कर्मचारियों के संगठन से भिन्न होता है। इन परिषदों में सरकार का प्रतिनिधित्व उन पदाधिकारियों द्वारा किया जाता है जो सहायक श्रेणी के नीचे के स्तर के नहीं होते हैं। इनकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। सम्बन्धित मंत्रालय का उप–सचिव इस परिषद् का सभापति होता है। कर्मचारी वर्ग के प्रतिनिधियों का चुनाव चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी प्रत्यक्ष रूप से करते हैं। प्रत्येक दस सदस्यों में से एक प्रतिनिधि चुना जाता है। चुनाव कर्मचारियों के दो समूहों में से किया जाता है। प्रथम समूह में दफ्तरी और अभिलेख–पृथक्कार आदि होते हैं और दूसरे समूह में चपरासी, फर्राश, जमादार, झाड़ू लगाने वाले आदि होते हैं। इन दोनों समूहों में से प्रत्येक को एक ऐसा अतिरिक्त प्रतिनिधि चुनने की अनुमति दी जाती है जो उच्च–वर्ग का सरकारी कर्मचारी होता है किन्तु यह शाखा अधिकारी (Section Officer) से ऊँचा नहीं होता। परिषद् के सचिव को सभापति द्वारा कर्मचारी वर्ग के प्रतिनिधियों की राय से मनोनीत किया जाता है। स्टाफ के प्रतिनिधि अपने पद पर एक वर्ष तक रहते हैं किन्तु उनको पुनः चुने जाने का अधिकार भी होता है। यदि किसी कर्मचारी को दूसरे मंत्रालय में अन्य स्तर पर पदोन्नत या स्थानान्तरित कर दिया जाता है तो वह इस परिषद् का सदस्य होने से रूक जाता है और उसके स्थान पर दूसरे प्रतिनिधि का चुनाव होता है।

कर्मचारी–वर्ग परिषदों के कार्य (The Functions of Staff Councils)

जब इस परिषदों की स्थापना के लिए गृह मंत्रालय द्वारा सिफारिश की गई थी तो इनकी स्थापना के लिए विधान भी तैयार किया गया था। इस विधान के अनुसार इन परिषदों के जो कार्य एवं उद्देश्य निर्धारित किए गए, वे मुख्यतः निम्नलिखित प्रकार 'के हैं

(1) कार्य के स्तरों को सुधारने के लिए दिए जाने वाले सुझावों पर विचार करना ।
(2) कर्मचारी वर्ग के सदस्यों को कोई ऐसा साधन प्रदान करना जिसके द्वारा वे उन विषयों पर अपने दृष्टिकोण से सरकार को अवगत करा सकें जो उनकी सेवा की शर्तों पर प्रभाव डालते हैं।
(3) कर्मचारी–वर्ग और अधिकारियों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क के साधन प्रस्तुत करना ताकि उनके बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास हो सके, और कर्मचारी–वर्ग अपने कार्य में अधिक रुचि लेने के लिए प्रोत्साहित हों।

ये परिषदें परामर्शदात्री निकाय (Advisory Bodies) हैं जो निम्नलिखित मामलों पर विचार कर सकती हैं। कर्मचारियों के कार्य करने की दशाएँ एवं शर्ते, सेवा शर्तों का विनियमन करने वाले सामान्य सिद्धान्त, कर्मचारी–वर्ग का कल्याण, कार्य–कुशलता एव कार्य–स्तर में सुधार सम्बन्धी मामले आदि।

परिषदों की कार्यप्रणाली (Working Procedure of Staff Councils)

इन परिषदों के लिए तीन महीने में कम से कम एक बार अपनी बैठक बुलाना जरूरी है। इस बीच यदि कर्मचारी वर्ग के प्रतिनिधियों का पाँचवाँ भाग चाहे तो सभापति को विशेष अधिवेशन भी बुलाना पड़ता है। बैठकों का कार्यक्रम सचिव द्वारा तैयार किया जाता है और सभापति द्वारा उसे स्वीकार किया जाता है।

बैठक से कुछ दिन पूर्व यह कार्यक्रम प्रत्येक सदस्य के पास भेज दिया जाता है। यदि कोई प्रतिनिधि कार्यक्रम में कोई नई बात जोडना चाहे तो सचिव को तत्सम्बन्धी सूचना दे देता है। गणपूर्ति के लिए कर्मचारी वर्ग के एक–तिहाई प्रतिनिधियों का होना जरूरी है। किसी भी बात पर निर्णय तब लिया जाता है जबकि दोनों पक्षों का बहुमत उसका समर्थन करे। परिषद मंत्रालय को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करती है जो उनके अनुसार की जाने वाली कार्यवाही पर विचार करता है।

भारत में कुछ राज्य सरकारों ने भी इस प्रकार की परिषदों का विकास कर लिया है और वहाँ ये इसी प्रकार का कार्य कर रही है। इस सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य बात यह है कि प्रथम श्रेणी के कर्मचारियों को इस प्रकार की परिषद बनाने का अधिकार नहीं दिया गया है।

परिषदों का मूल्यांकन (Evaluation of the Councils)

कर्मचारी–वर्ग की परिषदों के अधिवेशनों की संख्या की गई सिफारिशों की संख्या तथा क्रियान्वित सिफारिशों की संख्या को देखने के बाद विचारको ने भारी असन्तोष व्यक्त किया है। कर्मचारी वर्ग परिषदें प्रशासन पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालने में प्रायः असमर्थ रही हैं। कर्मचारी वर्ग की इन परिषदों के अब तक के कार्यों में निम्नलिखित दोष रहे है

प्रथम, परिषदों ने जिन विषयों पर विचार किया, वे विभिन्न प्रकार के थे। इन विषयों पर परिषदों ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की जिनमें केवल वे ही स्वीकार की गई जिनका सम्बन्ध अपेक्षाकृत गौण विषयों से था। इस प्रकार ये परिषद कार्यालय के अन्दर कार्य की दशाओं को सुधारने में असफल रही हैं। संगठन के पद–वर्गीकरण, पदोन्नति, वरिष्ठता की सूची तैयार करने आदि विषयों पर ये परिषदें कोई प्रभाव नहीं डाल पाई हैं। संगठन के इन महत्त्वपूर्ण विषयों पर कर्मचारियों को कोई निर्णायक अधिकार नहीं है, वे इन पर केवल विचार मात्र कर सकते हैं।

दूसरे, परिषदों में अधिकारी–वर्ग ने जो रूख अपनाया है वह हिटलेवाद की भावनाओं के अनुरूप नहीं है। उच्च अधिकारी यहाँ भी उच्चता की भावना से पीड़ित हैं और अधीनस्थ कर्मचारी हीनता की भावना से प्रभावित रहा है। ऐसी स्थिति में दोनों के बीच स्वतंत्र विचार–विमर्श का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तीसरे, इन परिषदों की बैठक नियमित रूप से नहीं की गई है। चौथे, परिषदों द्वारा जो सिफारिशें प्रस्तुत की गईं उन पर अविलम्ब ध्यान नहीं दिया गया। इस प्रकार कुल मिलाकर ये परिषदें उन आशाओं को पूरा करने में असमर्थ रही हैं जो इनके रचनाकारों ने इनसे की थीं। भारतीय लोक–प्रशासन आज भी प्रबन्ध एवं कर्मचारी–वर्ग के निकट घनिष्ठ एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के अभाव से दूषित है। दोनों पक्षों में एक–दूसरे के प्रति अविश्वास और गलतफहमी का वातावरण पाया जाता है जिससे उद्देश्यपूर्ण तथा सार्थक लाभ प्राप्त नहीं हो पाते हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. हीटलेवाद क्या है? और इसके उद्देश्य क्या हैं?
2 हीटलेवाद परिषदों के कार्य तथा संगठनों का वर्णन कीजिए।
3. भारत में हीटले परिषदों की भूमिका का वर्णन कीजिए।

अध्याय - 5

बजट निर्माण एवं पारित करना

Preparation and Passing of Budget

बजट के सिद्धान्त एवं बजट निर्माण प्रक्रिया

Principles and Process of Budget Making

वित्तीय प्रशासन की सबसे महत्त्वपूर्ण क्रिया बजट है। यह सभी प्रशासनिक क्रियाओं का आधार है। यह कार्यपालिका द्वारा प्रबन्ध तथा व्यवस्थापिका द्वारा नियन्त्रण स्थापित करने का एक प्रभावशाली माध्यम है। बजट प्रजातान्त्रिक सरकार का मूल आधार माना जाता है। इसके निर्माण के समय सर्वाधिक मुद्दे–नीतिगत होते हैं। किसी देश का बजट उसकी सम्पन्नता या विपनता का परिचायक होता है। इसमे आम जनता की विशेष रूचि होती है क्योकि बजट के द्वारा देश का प्रत्येक नागरिक प्रभावित होता है। सभी अपने कारोबार तथा जीवनयापन के संसाधनों के बारे में जानने के इच्छुक होते है कि हमें बजट से काई राहत मिलने वाली है या हमारे उपर कोई ओर खर्च आने वाला है। इसलिए मुख्यतः विकासशील देशों में इसका खासतौर पर महत्व बढ़ गया है। इससे राज्य की वित्तीय स्थिति से भी जनसाधारण अच्छी तरह से अवगत हो जाता है और सरकार की आय और व्यय सम्बन्धी नीति का भी ज्ञान हो जाता है।

''बजट'' शब्द का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इस शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच भाषा के शब्द 'Budgette' से हुई है जिसका अर्थ है–'एक चमड़े का थैला' आधुनिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम सन् 1773 में इंग्लैण्ड में किया गया जब वित्तमंत्री ने अपनी वित्तीय योजना दोनों सदनों में प्रस्तुत की तो पहली बार व्यग के रूप में यह कहा गया कि वित्तमंत्री ने अपना बजट खोला है। तभी से संसद में रखे जाने वाले ऐसे प्रस्तावों को बजट कहा जाने लगा।

परिभाषा

सामान्य भाषा में बजट वह विवरण है जिसमें आगामी वर्ष में शासन कितना खर्च करेगा और करों के माध्यम से कितनी आय करेगा, इसका उल्लेख होता है। बजट में विनियोजन अधिनियम और राजस्व अधिनियमों का उल्लेख रहता है। विनियोजन से खर्चा होता है और राजस्व से आय होती है। बजट आगामी वर्ष के लिए होता है इसलिए अनुमानित ही होता है। इस प्रकार बजट एक प्रकार से अनुमानित आय–व्यय का ब्यौरा होता है। रेने स्टोर्म के अनुसार, ''बजट एक लेखा–पत्र है जिसमें सरकारी आय तथा व्यय की प्रारम्भिक अनुमोदित योजना दी हुई होती है।

एक अन्य परिभाषा के अनुसार, "बजट प्रणाली का वास्तविक महत्व इस बात पर है कि वह किसी सरकार के वित्तीय मामलों के क्रमबद्ध प्रशासन की व्यवस्था करता है।'' विलोबी के अनुसार, ''बजट आमदनियों तथा खर्चों का केवल अनुमान ही नहीं है, बल्कि इससे अधिक है। बजट एक ही साथ रिपोर्ट, अनुमान तथा प्रस्ताव है अथवा उसे ऐसा होना चाहिए। यह एक ऐसा लेखपत्र है अथवा होना चाहिए जिसके द्वारा मुख्य कार्यपालिका धन प्राप्त करने वाली तथा व्यय की स्वीकृति देने वाली सत्ता के समक्ष इस बात का प्रतिवेदन करती है कि उसने और उसके अधीनस्थ कर्मचारियों ने पिछले वर्ष प्रशासन का संचालन किस प्रकार किया, लोक–कोषागार की वर्तमान स्थिति क्या है, और इन सूचनाओं के आधार पर आगामी वर्ष के लिए धन की व्यवस्था किस प्रकार की जायेगी।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर बजट के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें प्रकाश में आती है–प्रथम, बजट अनुमानित आय एवं व्यय का एक विवरण है। द्वितीय, यह एक सीमित अवधि के लिए होता है। तृतीय, बजट को स्वीकृत करने के लिए एक सार्वजनिक निकाय की आवश्यकता होती है। चतुर्थ, बजट के दो भाग होते है–प्रथम भाग में समस्त खर्ची का तथा द्वितीय भाग में समस्त आय का वर्णन रहता है। पाँचवा, बजट नियन्त्रण से मुक्त नहीं होता है। संक्षेप में बजट में आयात–निर्यात, राष्ट्रीयकरण, क्रय–विक्रय, वाणिज्य, उद्योग, आय–कर, कराधान आदि सभी समस्याओं के सन्दर्भ में सरकार की नीतियों का समावेश होता है।

बजट का अध्ययन करते समय उसके प्रकारों का उल्लेख करना आवश्यक है। सामान्यतः बजट तीन प्रकार के होते हैं–विधायिका प्रणाली का बजट, कार्यपालिका प्रणाली का बजट, तथा मण्डल या आयोग प्रणाली का बजट। इन प्रकारों के अतिरिक्त डॉ. विष्णु भगवान ने अपनी पुस्तक Theory of Public Administration में कुछ अन्य प्रकार के बजटों की चर्चा की है, जैसे–वार्षिक या दीर्घकालीन बजट, एकल या बहुल बजट, लाभ का, घाटे का या सन्तुलित बजट, नकदी या राजस्व बजट, तथा विभागीय या कार्य–निष्पादक बजट।

बजट के प्रकार
(Types of Budget)

बजट के निम्नलिखित प्रकारों की पहचान की जा सकती है

1. वैधानिक प्रकार का बजट (Legislative Type of Budget) – जब बजट कार्यकारी के अनुरोध पर विधायकों की समिति द्वारा तैयार किया जाता है तब इसे वैधानिक प्रकार का बजट कहते हैं। इसे विधानपरिषद तैयार करती है और अनुमोदित करती है। कार्यपालिका इस बजट को स्वीकार करती है। इस प्रकार के बजट का प्रयोग अब विरले ही होता है।

2. कार्यपालिका प्रकार का बजट (Executive type of Budget) – इस प्रकार का बजट तैयार करने और प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका का होता है। कार्यपालिका बजट को विधानपालिका से पारित कराती है। इस प्रकार का बजट अधिकांश लोकप्रिय है। संयुक्त राज्य अमेरिका में बजट के कार्यालय द्वारा बजट बनाया जाता है और कांग्रेस द्वारा पास किया जाता है।

3. निष्पादन बजट (Performance Budget) – आधुनिक प्रवृत्ति निष्पादन बजट के पक्ष में है न कि कार्यक्रम या वर्गीकरण बजट के। रॉबर्ट एच० हरमन के शब्दों में, ''निष्पादन बजट–निर्माण अन्यों की आवश्यकताओं की अपेक्षा सरकार की आवश्यकताओं पर बल देता है। इसमें बल इसे पूरा करने की आवश्यकता पर दिया जाता है। वस्तुतः निष्पादन बजट केवल नगरपालिकाओं में ही चलता है। (Performance budgeting emphasises the need of two governments rather than the need of the others- In it the emphasis shifts the need to accomplishment itself- Actually performance budgeting takes place only in the municipalities) निष्पादन बजट का सामान्य अर्थ सरकारी उत्पादन और उसकी लागत को प्राथमिक रूप से दर्शाने वाले कार्यो, कार्यक्रमों, निष्पादन इकाइयों अर्थात् गतिविधियों, परियोजनाओं आदि के संबंध में लोक व्यय के प्रस्तुतीकरण की एक व्यवस्था है। बजट के आबंटनों के माध्यम से ही कार्यक्रम कार्यान्वित और नियंत्रित किये जाते हैं। इसका पहला कार्य व उद्देश्य या लक्ष्य हैं, जिन्हें सरकार द्वारा प्राप्त किया जाना है।

4. एकल बजट (Single Budget) – सामान्यत सरकार अपने सभी प्रशासकीय विभागों के लिए अकेला बजट रखती है। एक एकल बजट पूर्णतया संश्लेषित बजट है जो सभी सरकारी विभागों के साथ–साथ उनकी नीतियों, परियोजनाओं और कार्यक्रमों के आय और व्यय के लिए बनता है।

5. बहु– बजट (Plural Budget) – इस प्रकार के बजट में दो या तीन या इससे भी अधिक विभागों को सम्मिलित करता है। भारत में दो बजट तैयार और पारित किये जाते हैं–रेलवे बजट (सन् 1921 से केवल रेलवे के लिए) और सामान्य बजट सरकार के अन्य सभी विभागों को सम्मिलित करता है।

6. संतुलित बचत अथवा घाटे का बजट (Balanced surplus or deficit budget) – बजट संतुलित बचत का या घाटे का हो सकता है। संतुलित बजट वह है जिसमें राजस्व (आय) व्यय के बराबर होता है। एक बचत वाला बजट वह है जिसमें राजस्व वास्तविक या अनुमानित व्यय से अधिक होता है। घाटे वाला बजट वह है जिसमें व्यय अनुमानित आय से अधिक होता है। घाटे का बजट प्रायः विकासशील अर्थ व्यवस्था वाले देश में प्रस्तुत किया जाता है। एक संतुलित बजट सामान्यतः लघु–बचत वाला बजट आदर्श समझा जाता है।

7. शून्य बजट–निर्माण अथवा शून्य–आधार पर बजट–निर्माण (Zero budgeting or Zero base budgeting) – शून्य आधार पर बजट–निर्माण एक नयी धारणा है जो तार्किक बजट–निर्माण की वकालत भी करती है। इसमें प्रत्येक स्कीम की समीक्षा बजट में प्रावधान से पहले ही उसके पक्ष में की जाती है। इस संबंध में यह निष्पादन बजट के समान है। शून्य आधारित बजट प्रक्रिया उस स्कीम के विभिन्न पहलुओं के संबंध में बहुत अधिक आंकड़ों की अपेक्षा करती है। जिसके लिए निधियों का आबंटन करना होता है। विभाग या अभिकरण को सभी सम्बन्धित आंकडे या अन्य निधियां प्रदान करनी पडती हैं, जो बजट में निधियों का आबंटन न्यायोचित कर सकें। निधियां केवल तभी उपलब्ध कराई जाती हैं, जब स्कीम का परीक्षण न्यायसंगत होता है।

बजट–निर्माण के सिद्धान्त

यह कथन पूर्णतः सत्य है कि बजट व्यवस्था वित्तीय प्रशासन का आधार–स्तम्भ है। वित्तीय प्रशासन में पूर्णता एवं स्थायित्व का तत्व जब तक नहीं आ सकता है, जब तक बजट का कोई सुदृढ सिद्धान्त न हो। यह कोई सुदढ़ सिद्धान्त न हो। यह निर्धारित करना सरल नहीं है कि बजट के लिए कौन–कौन से सर्वमान्य सिद्धान्त अपनाये जायें फिर भी बजट–निर्माण के लिए कुछ सिद्धान्तों को अपनाया जाना आवश्यक हो जाता है।

विभिन्न देशों में अपनाये गये बजट निर्माण सम्बन्धी सिद्धान्त तथा प्रमुख विचारका द्वारा बजट सम्बन्धी व्यक्त की गयी धारणाओं का अध्ययन करने के बाद बजट–निर्माण के निम्नलिखित सिद्धान्त उभरकर सामने आते है बजट सन्तुलित हो, आय–व्यय का अनुमान वास्तविकता पर आधारित हो वार्षिक बजट की व्यवस्था हो, आय तथा व्यय को उसी वर्ष बजट में सम्मिलित किया जायें बजट का निर्माण कुल (Gross) आय पर हो, बजट निर्माण का उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर हो, शासन के समस्त लेनदेन के लिए एक ही बजट हो, बजट नकदी आधार पर हो, वित्तीय परिणामों का आय–व्यय में उल्लेख हो। इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त हेरॉल्ट डी स्मिथ ने बजट के जिन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार है–बजट का खूब प्रचार तथा प्रकाशन हो, बजट स्पष्ट, व्यापक, निश्चित अवधि के लिए एवं विशुद्ध, सन्तुलित तथा सत्यता पर आधारित हो।

बजट निर्माण के प्रमुख सिद्धान्त (Principles of Budget formulation)

बजट निर्माण करते समय कुछ सिद्धान्तों को ध्यान में रखना अनिवार्य है। इसमें समस्त राष्ट्र वित्तीय व्यवस्था को ध्यान में रखना पडता है। सिद्धान्तों के आधार पर जो बजट बनाया जाता है वह जन–भावना को अभिव्यक्त करता है। बजट सार्वजनिक धन को सार्वजनिक हित में खर्च करने के लिये बनाया जाता है। बजट के माध्यम से व्यवस्थापिका कार्यपालिका को नियत्रित रखने में सक्षम होती है। प्रजातांत्रिक सरकारों में व्यय पर नियंत्रण रखा जाता है। जैसे–जैसे प्रजातंत्र का विकास होते जा रहा है इकाईयों पर संघों का नियंत्रण बढ़ते जा रहे हैं। इकाईयों पर आर्थिक नियंत्रण आज संगठन का आधार है। व्यवस्थापिका की स्वीकृति के बिना जिस तरह सार्वजनिक आय नहीं किया जा सकता उसी तरह सार्वजनिक व्यय भी नहीं किया जा सकता।

बजट बनाने के सम्बन्ध में कुछ मान्य सिद्धान्त हैं जिन्हें बजट निर्माण के समय ध्यान में रखना आवश्यक है।

1. **व्यापकता (Comprehensive)** –बजट में, बिना अपवाद के, सभी कार्यक्रमों को ध्यान में रखते हुए सरकारी राजस्व तथा व्यय की पूर्णतः व्यवस्था होनी चाहिये। इसमें ऋण में मुक्ति के लिये राजस्व प्राप्ति का ब्यौरा होना चाहिये। घाटा पूरा करने के लिये नवीन विधान होने चाहिये। इसमें सम्पूर्ण वर्ष का चित्र स्पष्ट होना चाहिये। इसे विकासोन्मुख तथा स्पष्ट होना चाहिये। जिन मुददों पर व्यय होगा उनका ब्यौरा स्पष्ट होना चाहिये। जिस बजट में ये सभी मुद्दे अंकित रहते हैं वह व्यापक बजट कहा जाता है।

2. **बजट सन्तलित होना चाहिये (Budget should be balanced)** – बजट का निर्माण करते समय सन्तुलन पर ध्यान रखना आवयक है। यह ध्यान देना नितान्त आवश्यक है कि किसी भी स्थिति में, प्रस्तावित एवं अनुमानित व्यय, अनुमानित आय से अधिक न हो। बजट में आय भाग से व्यय भाग अधिक होना दिवालियापन की ओर अग्रसर करता है। एम. पी. शर्मा ने सन्तलित बजट के सम्बन्ध में कहा है कि जब आय और व्यय भाग बराबर होते हैं तब यह सन्तुलित बजट कहा जाता है। (When the amount of expenditure and revenue in a budget are equal or nearly so, it is called a balanced budget)।

   जब व्यय भाग आय भाग से अधिक होता है तब वह बजट घाटे का कहा जाता है। एक बार घाटे का बजट हो जाय तो यह ज्यादा चिन्ता का विषय नहीं है, परन्तु प्रतिवर्ष घाटे का बजट बनाना दिवालियापन की ओर ले जाता है। नयी विचारधारा के अर्थशास्त्री घाटे के बजट का समर्थन करते हैं परन्तु उनकी मान्यता है कि घाटा सीमा के बाहर नहीं जाना चाहिये।

3. **कर तथा व्यय का अनुमान उचित होना चाहिये (Estimate of Tax and Expenditure should be Proper)** – आय तथा व्यय का उचित अनुमान बजट का सफलता है। वार्षिक आय, पंजीगत धन तथा प्रतिवर्ष बार–बार होने वाले व्ययों का ब्यौरा अलग–अलग होना चाहिये, बजट में दो अलग–अलग भागों में वार्षिक आय–व्यय तथा पुँजी सम्बन्धी आय–व्यय का उल्लेख होना चाहिये। मुख्य कार्यपालिका पर बजट सम्बन्धी उत्तरदायित्व होने के कारण उसे बजट निर्माण हेतु कुछ प्रशासकीय उपकरण प्राप्त होने चाहिये जिसका प्रावधान भी बजट में अनिवार्य है। आय सम्बन्धी अनुमान को कम नहीं होना चाहिये एवं व्यय सम्बन्धी अनुमान न्यूनतम आवश्यकताओं से अधिक नहीं होना चाहिये।

4. **एकल बजट (Single Budget)** एकल बजट का अर्थ है कि सरकार के समस्त विभागों की आय–व्यय की वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिये प्रयत्न किया जाय। उसमें समग्र विषयों का उल्लेख होना चाहिये मात्र निष्कर्ष का उल्लेख करना उचित नहीं होगा इसमें केवल यह दर्शाना की अमुक आय एवं व्यय होगा अपर्याप्त है सभी विभागों का अलग–अलग बजट नहीं बनाया जा सकता यदि ऐसा होता है तो उससे बजट की पूर्ण स्थिति का सही पता नहीं लग सकता है। बजट का एकल गुण इसकी विशेषता है।

5. **वार्षिक बजट (Annual Budget)**–वार्षिक बजट का अर्थ है कि बजट का निर्माण एक वर्ष की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर होना चाहिये यह सामान्य अनुभव है कि वार्षिक वास्तविक व्यय, अनुमानित व्यय से, वर्ष के अन्त में बढ़ जाता है। इसलिये अनुमान ऐसा करना चाहिये कि वर्ष के अन्तिम चरण में मूल्य वृद्धि के अनुरूप हो। वार्षिक बजट प्रस्तुत करते समय इन मुददों पर ध्यान रखना चाहिये। विधानमण्डल द्वारा धन की स्वीकृति केवल एक वर्ष के लिये होनी चाहिये। वित्त सम्बन्धी नीतियों को सम्पन्न करने के लिए एक वर्ष की अवधि पर्याप्त है। बजट में नियोजन सम्बन्धी नीति दीर्घकालीन हो परन्तु प्रतिवर्ष के लिये उसकी दर निश्चित करना आवश्यक है।

6. **बजट कार्यपालिका का उत्तरदायित्व होना चाहिये (Budget should be the responsibility of the Executive)** – बजट के निर्माण का उत्तरदायित्व कार्यपालिका का होता है। धन सम्बन्धी आवश्यकताओं

का विवरण केवल कार्यपालिका ही दे सकती है। मुख्य कार्यपालक की देखरेख में बजट तैयार होता है। विधानमण्डल का कार्य उसके द्वारा दी गयी मांगों को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना है। उस समय विधानमण्डल को कार्यपालिका की नीतियों का सर्वेक्षण करने का अच्छा अवसर मिल जाता है। इस कारण यह कहा जाता है कि विधानमण्डल को बजट के लिये उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है। वाटल ने बजट के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है: बजट विधानमण्डल एवं कार्यपालिका के हाथों प्रत्येक वित्त नियंत्रण का प्रारम्भिक बिन्दु हैं। संगठित वित्त व्यवस्था के अभाव में स्थायी सामाजिक प्रगति सम्भव नहीं है। (The Budget is the Starting point of financial control by the eÛecutive as well as by the legislature- It is the basis of finance without which there can be no lasting social progress-&Watal)

7. **बजट को नेट पोजीशन पर न होकर ग्रॉस आय पर होना चाहिये (Budget should be based not on net position but on Gross Income)** – राजकीय धन राशि पर विधानमण्डल द्वारा नियंत्रण के लिये यह आवश्यक है कि बजट का निर्माण नेट पोजीशन (Net Position) न करके ग्रॉस आय एवं व्यय (Gross income and expenditure) के आधार पर होना चाहिये अर्थात् बजट में आय तथा व्यय का पूर्ण विवरण होना अनिवार्य है। इसमें उस धन राशि का भी विवरण होना चाहिये जिसकी मांग विधानमण्डल में की गयी है।

8. **हड़प नीति (Rule of Lapse)** – हड़प नीति का अर्थ यहा होता है कि विधानमण्डल के द्वारा एक कार्य के लिये, एक वर्ष के लिये स्वीकृत किया गया धन जब निश्चित अवधि में व्यय नहीं होगा तो वह समाप्त हो जायेगा। वह राशि अपने आप दुसरे वर्ष में खर्च नहीं की जा सकती। कोई भी विभाग अपने विभाग के लिये इस राशि को जमा नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त का लाभ यह है कि विभाग स्वीकृत राशि को विभागीय विकास में लगाता है हालाकि इसका दोष यह है कि वर्ष के अन्त में सरकारी तंत्र जल्द से जल्द काम कराना चाहता है जिससे काम करने वाले अभिकरण को राशि हडपने का मौका मिल जाता है। यहां सरकार पैसा नहीं हडपती बल्कि कार्मिक पैसा हड़प जाते हैं।

भारत में बजट–निर्माण की प्रक्रिया

हमारे देश में बजट पद्धति का आरम्भ लार्ड केनिंग (1856–62) के कार्यकाल में हुआ। 1859 में जेम्स विल्सन ने 18 फरवरी, 1860 को वायसराय की परिषद में प्रथम बार बजट प्रस्तुत किया। इसलिए जेम्स विल्सन को भारत में बजट पद्धति का जन्मदाता कहा जाता है। इसके बाद प्रतिवर्ष वित्तीय स्थिति का विवरण प्रस्तुत करने वाले बजट वायसराय की परिषद में प्रस्तुत किये जाने लगे। यह स्थिति स्वतन्त्रता प्राप्त करने से पूर्व तक बनी रही। 1947 में स्वतन्त्र होने पर भारतीय संसद एवं विधान सभाओं को बजट पर नियन्त्रण के अधिकार प्राप्त हो गए। यहां यह बात ध्यान रखने योग्य है कि भारत में सम्पूर्ण देश के लिए केवल एक ही बजट नही होता है। केन्द्र सरकार पूरे देश के लिए एक बजट प्रस्तुत करती है, तथा प्रत्येक राज्य अपने–अपने राज्य के लिए अलग–अलग बजट प्रस्तुत करते हैं। संघीय स्तर पर दो बजट होते हैं–पहला सामान्य बजट जो वित्तमन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। दूसरा रेलवे बजट, जो रेलमन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। भारत में वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से प्रारम्भ होकर 31 मार्च को समाप्त होता है। भारत में बजट निर्माण की प्रकिया आरम्भ होने से लेकर कार्यान्वयन के स्तर तक पहुँचने के बीच इसे जिन विभिन्न चरणों से होकर गुजरना पड़ता है, वे निम्नलिखित है.

1. बजट का निर्माण
2 विधानमण्डल की स्वीकृति
3. बजट का क्रियान्वयन

1. बजट का निर्माण–बजट के निर्माण की प्रक्रिया को भी तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है

(क) बजट का विभागों द्वारा निर्माण,

(ख) बजट की महालेखापाल के कार्यालय में जाँच तथा निर्माण, और

(ग) वित्त मन्त्रालय द्वारा समेकन तथा जाँच।

(क) बजट का विभागों द्वारा निर्माण – भारत में वित्तीय वर्ष प्रारम्भ होने के 7 से 8 माह पूर्व बजट–निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। बजट के अनुमानों की तैयारी का पूर्ण उत्तरदायित्व कार्यपालिका का होता है। अनुमानों को तैयार करने के लिए सर्वप्रथम कार्यपालिका अपनी वित्तीय नीति को स्पष्ट करती है। बजट की रूपरेखा तैयार करने का उत्तरदायित्व यद्यपि वित्त मन्त्रालय का होता है, किन्तु इस कार्य में प्रशासकीय मन्त्रालय, योजन आयोग, अधीनस्थ कार्यालय तथा महालेखा परीक्षक का भी हाथ होता है। प्रशासकीय मन्त्रालय और उसके अधीनस्थ कार्यालयों से वित्त मन्त्रालय को प्रशासकीय आवश्यकताओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। योजना आयोग योजनाओं की प्राथमिकता के सम्बन्ध में मन्त्रणा देता है और नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक प्राक्कथन तैयार करने हेतु लेखा–कौशल उपलब्ध कराता है। बजट अनुमान तैयार करने की शुरूआत वित्त–मन्त्रालय द्वारा जुलाई अथवा अगस्त माह से ही शुरू कर दी जाती है जब वह विभिन्न प्रशासकीय मन्त्रालयों तथा विभागाध्यक्षों को व्ययों के प्राक्कलन तैयार करने के लिए एक प्रपत्र भेजता है। विभागाध्यक्ष इन छपे हुए निर्धारित प्रपत्रों को स्थानीय कार्यालयों को भेज देता है। प्रपत्र में निम्नलिखित शीर्षक होते हैं

1. विनियोगों के शीर्ष तथा उपशीर्ष,
2. गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय,
3. वर्तमान वर्ष के स्वीकृत अनुमान,
4. वर्तमान वर्ष के संशोधित अनुमान,
5. आगामी वर्ष के बजट प्राक्कलन, और
6. घटा–बढ़ी का विस्तार।

स्थानीय कार्यालयों द्वारा ये प्रपत्र तैयार करके प्रशासकीय मन्त्रालयों से सम्बन्धित विभागों को भेज दिये जाते हैं। विभागों के अध्यक्ष अनुमानों का सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं और आवश्यकतानुसार संशोधन करके अपने–अपने विभागों के लिए उन्हें एकीकृत करते हैं। इसके बाद प्रशासकीय मन्त्रालय इन प्राक्कलनों को नवम्बर के मध्य में वित्त मन्त्रालय को भेज देते हैं। वित्त मंत्रालय द्वारा बजट अनुमानों का सूक्ष्म परीक्षण किया जाता है। यह परीक्षण मुख्यतः मितव्ययता से सम्बन्ध रखता है, नीति से नहीं। व्यय सम्बन्धी नीति को देखना तो प्रशासकीय मन्त्रालय का कार्य है।

प्रशासकीय मन्त्रालयो द्वारा प्रेषित बजट अनुमानों को मोटे रूप में तीन भागों में बाँटा जाता है प्रथम स्थायी व्यय। इसमें स्थायी सस्थानों के वेतन, भत्ते तथा अन्य व्यय सम्मिलित है। इनसे सम्बन्धित अनुमान सूक्ष्म पुनरावलोकन हेतू वित्त मंत्रालय के बजट सम्भाग को भेजे जाते है। द्वितीय, प्रचलित कार्यक्रम। प्रचलित कार्यक्रमों के प्राक्कलनों की जाँच व्यय– विभाग द्वारा की जाती है। इस सूक्ष्म परीक्षण द्वारा यह देखा जाता है कि जारी योजनाओं में कहाँ तक प्रगति हुई है। तृतीय नवीन कार्यक्रम। वही मंत्रालय द्वारा प्राक्कलनों की वास्तविक जाँच इसी क्षेत्र में की जाती है। नवीन योजनाओं के सम्बन्ध में संसाधनों पर विभिन्न मदों की प्राथमिकता के संबंध में विचार किया जाता है। इस विषय में योजना आयोग तथा वित्त–मन्त्रालय के आर्थिक मामलों के विभाग में भी सलाह ली जाती है।

(ख) बजट की महालेखापाल के कार्यालय में जाँच तथा निर्माण – विभागों के द्वारा जब आगामी वर्ष के आय–व्यय का प्राक्कलन हो जाता है तो वे प्रपत्रों की एक प्रति वित्त–मन्त्रालय के साथ–साथ दूसरी प्रति महालेखापाल के कार्यालय को भेज देते हैं। महालेखापाल के कार्यालय में विभाग से सम्बन्धित सारे लेखे रहते हैं। विभाग ने जो प्रपत्र भेजा है उसमें दिये गये आँकड़ों के आधार पर महालेखापाल उसकी जाँच कर लेता है। इस जॉच से ऑकड़ों में शुद्धता आ जाती है। शुद्ध आँकडों के आधार पर प्रस्तावित व्यय भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। महालेखापाल प्रपत्र की जाँच करने के अतिरिक्त दो कार्य और करता है। एक कार्य तो है आय–व्ययक टिप्पणी बनाना तथा दूसरा कार्य है प्राक्कलनों को माँगों का रूप देना। प्रत्येक विभाग अपने प्राक्कलनों की एक प्रतिलिपि महालेखापाल को भेजता है। इस कार्यालय में विभिन्न मदों की जाँच की जाती है। उसके पश्चात् महालेखापाल अपनी टिप्पणी सहित उसे वित्त मन्त्रालय को भेज देता है।

(ग) वित्त–मन्त्रालय द्वारा समेकन तथा जाँच – प्रशासकीय मन्त्रालयों अथवा विभागों द्वारा बजट अनुमानों की जाँच सरकारी नीतियों के सन्दर्भ में की जाती है जब कि वित्त–मन्त्रालय के बजट विभाग की सूक्ष्म जाँच का उद्देश्य व्यय में मितव्ययता प्राप्त करना होता है। प्राक्कलन का कार्य 7 से 9 माह पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भ वित्त मन्त्रालय ही करता है यह विभिन्न विभागों को व्ययों के प्राक्कलन तैयार करने के लिए एक परिचय–पत्र भेजता है। इन परिचय–पत्रों को विभिन्न मन्त्रालय अपने–अपने प्राक्कलन सहित वित्त–मन्त्रालय को 30 अक्टूबर तक भेज देते हैं। वित्त–मन्त्रालय उनको संचित व समन्वित करता है और बजट का रूप प्रदान करता है।

वित्त–मन्त्रालय के आय–व्ययक प्रभाग में प्राक्कलनों की पुनः जाँच होती है। भारत में आय–व्ययक प्रभाग की जॉच इस दृष्टि से नहीं होती है कि कितने धन की वास्तविक आवश्यकता है वरन् इस दृष्टि से होती है कि कुल प्राप्त आय के अनुपात में व्यय प्राक्कलन अधिक है अथवा कम। पूँजी व्यय के सम्बन्ध में आय–व्ययक प्रभाग की जाँच बहुत सूक्ष्म होती है। पूँजी व्यय जितना बचत के साथ हो सके उतना वांछनीय है। इस सामान्य सिद्धान्त के कारण वित्त विभाग यह देखता है कि पूँजी व्यय किसी ऐसी योजना पर तो नहीं हो रहा है जो पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित न हो।

आय–व्ययक तैयार हो जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आय व व्यय में कितना अन्तर है। इस बात पर विचार किया जाता है कि बजट घाटे का होगा या सन्तुलित होगा। यदि बजट घाटे का है तो उस घाटे को कैसे पूरा किया जायेगा, इस पर विचार किया जाता है। नये प्रस्तावित कर कौन से होंगे, ऋण किस स्त्रोत से लिये जायेंगे, आदि बातों पर भी विचार किया जाता है। कर लगाने का तथा ऋण लेने का निर्णय अन्तिम चरण में लिया जाता है। इस निर्णय को बहुत गोपनीय रखा जाता है। अत्यन्त महत्वपूर्ण खर्चे मन्त्रिमण्डल की पूर्व–स्वीकृति से अनुमानित व्यय में सम्मिलित किये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न विभागों द्वारा निर्मित प्राक्कलन महालेखापाल के कार्यालय द्वारा परीक्षित तथा वित्त–मन्त्रालय द्वारा अन्तिम रूप से तैयार बजट एक निश्चित स्वरूप धारण कर लेता है जिसे बजट कहा जाता है। बजट विवरण के निम्नलिखित पाँच भाग होते हैं.

(1) केन्द्रीय राजस्व से हुए व्यय का सामान्य विवरण,

(2) केन्द्रीय राजस्व की प्राप्तियों और भुगतानों का सामान्य विवरण,

(3) केन्द्रीय शासन के राजस्व का विस्तृत विवरण,

(4) केन्द्रीय शासन के राजस्व में हुए व्यय का विवरण,

(5) केन्द्रीय शासन की प्राप्तियों और भुगतानों का विवरण।

पहले भाग में आय–व्यय की तुलना दिखलाना होता है। दूसरे भाग से यह स्पष्ट होता है कि शासन की वित्तीय स्थिति कैसी है। तीसरा, चौथा और पाँचवाँ भाग उपर्युक्त दो भागों का विस्तृत विवरण होता है।

2. **विधानमण्डल की स्वीकृति** – लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जनता द्वारा चुनी गयी सभा के पूर्वानुमोदन के बिना न तो कोई कर लगाया जा सकता है और न ही कोई खर्च किया जा सकता है। सविधान के अनुच्छेद 112 में प्रावधान है कि राष्ट्रपति प्रतिवर्ष वित्त विवरण संसद के दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत करायेगा। बजट को संसद का अनुमोदन प्राप्त करने के लिए वित्त विवरण को निम्नलिखित चरणों से होकर गुजरना होता है.

(क) संसद के समक्ष प्रस्तुतीकरण,

(ख) बजट पर सामान्य चर्चा,

(ग) मांगों पर बहस तथा उन पर मतदान,

(घ) विनियोग विधेयक पर बहस और उनको पारित किया जाना,

(ङ) वित्त–विधेयक पर स्वीकृति।

संविधान में यह उल्लेखित है कि बजट दोनों सदनों के समक्ष रखा जायेगा परन्तु बजट पारित करने के सम्बन्ध में दोनों सदनों–लोकसभा व राज्यसभा–को समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं। वित्तीय मामलों में लोकसभा राज्यसभा से अधिक शक्तिशाली होती है। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना जरूरी है कि वित्तीय मामलों में राज्यसभा की वास्तविक स्थिति क्या है।

(1) धन–विधेयक राज्यसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

(2) लोकसभा में पारित हो जाने के बाद राज्यसभा धन–विधेयक को उसी रूप में जिस रूप में लोकसभा ने उसे पारित किया या पारित कर देगी या अपनी अनुशंसाओं और सुझावों के साथ लोकसभा को वापस लौटा देगी। धन–विधेयक पर विचार करने के लिए राज्यसभा को चौदह दिन का समय दिया जाता है। राज्यसभा ने जो सुझाव दिये हैं उनको स्वीकार करने या अस्वीकृत करने का पूर्ण अधिकार लोकसभा को होता है। यदि लोकसभा राज्यसभा द्वारा प्रस्तावित सिफारिशा का अस्वीकृत कर देती है तो धन–विधेयक को पुन राज्यसभा में भेजने की आवश्यकता नहीं होती।

(3) यदि राज्यसभा धन–विधेयक को न तो पारित करती है और न अनुशंसाओं सहित वापस लौटाती है तो ऐसी स्थिति में चौदह दिन के बाद विधेयक राज्यसभा के द्वारा पारित माना जाता है।

(क) विधानमण्डल के सम्मुख प्रस्तुतीकरण – लोकतान्त्रिक देशों में कार्यपालिका द्वारा तैयार किये जाने के बाद बजट संसद में स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। बजट प्रस्तुत करने का दायित्व मन्त्रिमण्डल का होता है। आमतौर पर भारतीय संसद का बजट सत्र फरवरी माह के अन्त में प्रारम्भ होता है। इसी अधिवेशन में भारत के दोनों बजट–रेलवे बजट तथा सामान्य बजट प्रस्तुत किये जाते हैं। रेलवे बजट रेल मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जिसमें रेलो की आय–व्यय, उनकी अनुदान माँगें, रेलमन्त्री का भाषण आदि सम्मिलित होते हैं। सामान्य बजट वित्त–मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वित्त–मन्त्री अपना बजट अभिभाषण पढता है। बजट भाषण की छपी हुई प्रतियाँ पहले ही सदस्यों को दे दी जाती हैं। बजट में दोनों प्रकार के व्ययों को अलग–अलग करके रखा जाता है। प्रथम प्रकार के व्यय तो वे हैं जो भारत की संचित निधि में से किये जाते हैं। द्वितीय प्रकार के व्यय वे होते हैं जो भारत की संचित निधि पर भारित होते हैं।

(ख) बजट पर सामान्य चर्चा – संसद में बजट प्रस्तुत किये जाने के बाद उस दिन उस पर कोई चर्चा नहीं होती है। इसके लिए लोकसभा का अध्यक्ष सामान्य चर्चा की तारीख निर्धारित कर देता है । बजट पर चर्चा करने के लिए सदस्यों को 3 से 4 दिन का समय मिलता है। इस आम चर्चा में सदस्यों को शासन की नीति पर बहस तथा आलोचना करने का अवसर मिलता है। सामान्य चर्चा के दौरान न तो कोई प्रस्ताव

रखा जाता है और न ही मतदान के लिए बजट संसद के समक्ष रखा जाता है । यह चर्चा राजनीतिक अधिक, वित्तीय कम होती है। सामान्य चर्चा संसद के दोनों सदनों में एक साथ चलती रहती है। जब वाद–विवाद समाप्त हो जाता है तब वित्तमन्त्री सभी प्रकार की आलोचनाओं का उत्तर देता है।

(ग) माँगों पर बहस तथा उन पर मतदान – सामान्य चर्चा समाप्त हो जाने तथा लेखानुदान पारित हो जाने के बाद लोकसभा में एक–एक माँग पर अलग–अलग मतदान होता है। इस प्रकार बजट का समस्त व्यय भाग इस मतदान के अन्तर्गत आ जाता है। प्रत्येक विभाग से सम्बन्धित माँग के प्रस्तुत होने पर जोरदार वाद–विवाद होता है। इस वाद–विवाद के समय विपक्ष सम्बन्धित विभाग एव उसकी नीतियो की जमकर आलोचना कर उनकी आलोचनाओं और आरोपो का उत्तर देता है। इसके बाद उस विभाग की माँगों पर मतदान होता है। माँगों पर बहस में एवं उस पर मतदान होने में लगभग 22 दिन का समय लग जाता है। बजट पारित करने की प्रक्रिया में यह चरण काफी महत्व रखता है।

शासन की ओर से माँगें रखी जाती हैं और विपक्षियों की ओर से कटौती क प्रस्ताव रखे जाते हैं। कटौती का प्रस्ताव पेश करके विरोधी दल यह बताना चाहते हैं कि शासन को व्यय के लिए उतना धन नहीं स्वीकृत करना चाहते जितना माँगा जा रहा है। यदि कटौती प्रस्ताव बहस के लिए स्वीकार हो जाता है तो उस पर बहस होने लगती है। कटौती के प्रस्ताव निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं

(1) कटौती के वे प्रस्ताव जो नीति का विरोध करने के लिए रखे जाते हैं।

(2) कटौती के वे प्रस्ताव जो मितव्ययता बरते जाने के लिए रखे जाते हैं।

(3) कटौती के वे प्रस्ताव जो प्रतीक रूप में रखे जाते हैं।

कटौती के प्रस्ताव रखे जाते हैं परन्तु वे कभी पारित नहीं होते। इसी प्रकार से शासन संसद से अनुदान की माँग करता है परन्तु यह मात्र एक औपचारिकता है। शासन जितने अनुदान की माँग करता है उतना अनुदान संसद से प्राप्त हो ही जाता है। ऐसा कभी नहीं होता कि शासन अनुदान की माँग करे और संसद उस माँग को अस्वीकृत कर दे। यदि संसद शासन की माँग को अस्वीकृत कर देती है तो इसका अर्थ शासन के विरुद्ध अविश्वास व्यक्त करना होता है। जब तक संसद का सरकार में विश्वास है तब तक शासन की प्रत्येक माँग को संसद स्वीकार करती ही है।

यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि अनुदान की माँगों में कटौती के ही प्रस्ताव रखे जा सकते हैं, माँगों में बढोत्तरी के प्रस्ताव नहीं रखे जा सकते हैं। माँगों को बढ़ाने का अधिकार तो केवल सरकार को ही है। विरोधी तो केवल माँग में कटौती करने की माँग कर सकते हैं। बहस केवल उन मांगों पर होती है जो संचित निधि पर भारित न हों।

(घ) विनियोजन विधेयक पर विचार–विमर्श और स्वीकृति – जब सदन के द्वारा अनुदान स्वीकृत हो जाता है तो विनियोजन विधेयक प्रस्तुत किया जाता है। विनियोजन विधेयक का उद्देश्य उस राशि को प्रशासकीय विभागों को उपलब्ध करना है जो राशि अनुदान के रूप में सदन के द्वारा स्वीकृत की गयी है। शासन केवल वही राशि व्यय कर सकता है जो विनियोजन अधिनियम द्वारा संसद ने उसको दी है। मूल रूप से दी गयी राशि से जब शासन का काम नहीं चलता है तो सरकार को पूरक अनुदान लेना पड़ता है। नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक और वित्त–मन्त्रालय इस बात पर कड़ी निगाह रखते हैं कि शासन का व्यय उसी विषय पर उतना ही हुआ है जितना विनियोजन अधिनियम ने निर्धारित किया था।

विनियोजन विधेयक पर विचार करने व उसको पारित करने में तथा वित्त–विधेयक पर विचार करने व उसको पारित करने में लगभग पाँच दिन का समय लगता है। विनियोजन विधेयक वित्त–मन्त्री द्वारा प्रस्तुत

किया जाता है। इस विधेयक पर कोई बहस इसलिए नहीं होती क्योंकि अनुदान माँगों को स्वीकृत करने से पहले ही सदन में काफी बहस हो चुकी होती है। हाँ, अनुदान की माँग को स्वीकृत करने के बाद और विनियोजन विधेयक प्रस्तुत करने के पूर्व यदि कोई बात हो गयी हो तो बहस की आवश्यकता अनुभव की जाती है। दो–तीन दिन में विनियोजन विधेयक पारित हो जाता है। लोकसभा में पारित होने के बाद विधेयक राज्यसभा को भेजा जाता है। 14 दिन के अन्दर राज्यसभा को विनियोजन विधेयक पारित करना होता है। दोनों सदनों में पारित होने के बाद विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति की स्वीकृति एक औपचारिकता मात्र है।

(ङ) वित्त–विधेयक पर स्वीकृति – भारतीय संविधान के अनुच्छेद 263 में निर्धारित किया गया है कि कोई भी कर संसद की स्वीकृति के बिना न तो लगाया जा सकता है और न ही वसूल किया जा सकता है। कर दो प्रकार के होते हैं–एक वे कर जो स्थायी होते हैं तथा दूसरे वे कर जो स्थायी नहीं होते हैं। स्थायी करों का नियमन करने वाले कानून कार्यपालिका को उनकी दर निर्धारित करने का अधिकार देते हैं । जो कर स्थायी नहीं हैं, उन करों की दर का निर्धारण प्रतिवर्ष संसद करती है। ऐसे करों में सीमा शुल्क तथा आय–कर आदि होते हैं। वर्ष में जितने भी कर लगाने होते हैं उन समस्त करों को एक विधेयक में संकलित कर लिया जाता है। यह विधेयक शासन को अनुदान देने के लिए उपायों और साधनों की व्यवस्था करने के लिए होता है।

कर बढ़ाने तथा नया कर लगाने का प्रस्ताव शासन की ओर से ही रखा जाता है। विपक्षियों या गैर–सरकारी पक्ष के द्वारा कर लगाने या कर बढ़ाने के प्रस्ताव नहीं आ सकते। इसका कारण यह है कि ऐसे प्रस्ताव राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना प्रस्तत नहीं किये जा सकते, और राष्ट्रपति केवल सरकार की ही बात को स्वीकार करता है। कर को समाप्त करने के तथा कर को घटाने के प्रस्ताव विरोधी या गैर–शासकीय पक्ष के द्वारा रखे जा सकते हैं। विनियोजन की राशियों में कटौती का तो कोर्ट प्रस्ताव शासन स्वीकार करता ही नहीं है, क्योंकि उसकी स्वीकृति का अर्थ शासन के विरुद्ध अविश्वास समझा जाता है। परन्तु करों के प्रस्तावों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। शासन ऐसे प्रस्तावों को जिनके द्वारा कर को समाप्त करने या कर को कम करने की बात प्रस्तावित की गयी हो, स्वीकार भी कर लेता है। इस सन्दर्भ में संसद को अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है।

वित्त–विधेयक वित्त–मन्त्री के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। वित्त–मन्त्री प्रस्ताव रखता है कि वित्त–विधेयक को विचारविमर्श लिया जाना चाहिए। सदन उस पर विचारविमर्श और वाद–विवाद प्रारम्भ कर देता है। शासन की कराधान नीति पर वाद–विवाद प्रारंभ हो जाता है। उसके प्रश्चात विधेयक को प्रवर समिति के पास भेजा जाता है। प्रवर समिति उस पर अपना प्रतिवदन पुनः सदन क समक्ष रख देती है। सदन पुनः विधेयक पर गहराई से विचार करता है।

जब लोकसभा में विधेयक पारित हो जाता है तो उसे राज्यसभा के पास भेजा जाता है। राज्यसभा को विचार करने के लिए 14 दिन का समय मिलता है। जब राज्यसभा भी विधेयक को पारित कर देती है तो विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात् विधेयक अधिनियम बन जाता है और क्रियान्वित होता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि जब विधेयक राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है तो राष्ट्रपति उस पर हस्ताक्षर कर विधेयक को लौटा देता है या फिर अपनी सिफारिशों के साथ 5 या 10 दिन के भीतर उसे लोकसभा को लौटाना होता है। यदि सिफारिशों के साथ विधेयक वापस होता है तो लोकसभा को इस पर पुनर्विचार करना ही होता है। यह आवश्यक नहीं कि लोकसभा राष्ट्रपति के सुझावों को स्वीकार करे। लोकसभा मूलरूप में ही विधेयक को पारित करके राष्ट्रपति को पुनः हस्ताक्षर के लिए भेज देती है। निर्धारित अवधि में राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर कर दे तो ठीक

अन्यथा अवधि की समाप्ति के पश्चात् वित्त–विधयक स्वतः कानून बन जाता है। राष्ट्रपति का यह विशेषाधिकार सैद्धान्तिक महत्त्व का विषय है। व्यवहार में राष्ट्रपति ऐसा करता नहीं है। संसदीय लोकतन्त्र की मर्यादाओं को मानते हुए राष्ट्रपति वित्त–विधेयक पर हस्ताक्षर कर देता है।

3. बजट का क्रियान्वयन – संसद की स्वीकृति और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद बजट को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया आरम्भ होती है। बजट के क्रियान्वयन के सम्बन्ध में दो बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रथम, बजट का क्रियान्वयन विनियोजन अधिनियम के अनुरूप होना चाहिए, और द्वितीय, बजट के क्रियान्वयन से सम्बन्धित सरकारी तन्त्र का पूर्ण निष्ठा तथा कुशलता से कार्य करना। बजट के क्रियान्वयन में पाँच प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं जो इस प्रकार हैं।

(1) कर–निर्णय एवं एकत्रीकरण – वित्त–विधेयक में प्रस्तावित कर प्रस्तावों के अन्तर्गत सम्भावित आय–प्राप्ति का अनुमान करना होता है तथा उसके बाद कर वसूली का कार्य किया जाता है। कर–निर्णय से तात्पर्य इस बात का निर्णय करना है कि संसद द्वारा प्रदत्त शक्ति के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों से कितनी कर–राशि इकट्ठी की जानी है। राजस्व एकत्रित करने के अनेक साधन हैं। कुछ व्यक्तियों द्वारा राजस्व प्रत्यक्ष रूप से राजकोष में जमा कर दिया जाता है। सरकारी कर्मचारी आमतौर से कर को अपने वेतन से ही कटवा देते हैं। इस सम्बन्ध में इस बात को लेकर काफी विवाद है कि करों के मूल्यांकन का दायित्व अलग–अलग संस्थानों को सौंपा जाय या किसी एक संस्था को। भारत में केन्द्रीय राजस्व बोर्ड (Central Board of Revenue) इस कार्य को सम्पन्न करता है। सुविधा की दृष्टि से कुछ अन्य उपविभाग इससे जुड़े हैं, जैसे–आयकर, अतिरिक्त लाभ तथा व्यवसायिक कर, सीमा शुल्क, केन्द्रीय उत्पादन शुल्क, अफीम विभाग तथा स्टाम्प्स विभाग आदि।

(2) कोष–संरक्षण – जो राजस्व एकत्र कर लिया गया है या एकत्र किया जाना है उसे सुरक्षित रखने का प्रश्न भी धन के संरक्षण तथा संवितरण की व्यवस्थाएं हर देश में अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में विकसित की जाती है।

ब्रिटेन तथा अमरीका में बैकिग सस्थाओं की भूमिका इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है, जबकि भारत में राजकोषीय व्यवस्था प्रचलन में है। इस समय हमारें देश में 300 राजकोष (Treasuries) तथा 1200 उपराजकोष कार्य कर रहे है। ये राजकोष जिला तथा तहसील स्तर पर सरकार की ओर से भुगतान स्वीकार करते हैं तथा सरकार के नाम पर भुगतान भी करते है। भारत में रिजर्व बैंक या जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है वहाँ स्टेट बैंक भारत सरकार के राजस्व–सरंक्षण सम्बन्धी कार्य करता है।

3. निधियों का वितरण – संसद तथा विधानमण्डलो द्वारा विभिन्न विभागो के लिए जो अनुदान अस्वीकार किये जाते है तथा शासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिस धन की आवश्यकता होती है उसके लिए धन निकालने या वितरण करने का प्ररन अपने आप महत्वपूर्ण होता है। वित्त–मन्त्रालय प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष को वित व्यवस्था बनाये रखने के दृष्टिकोण से नियन्त्रण अधिकारी नियुक्त करता है। विभागाध्यक्ष ही अपने विभाग के सम्बन्ध में समुचित वित्त–व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होता है। वितरण अधिकारी के ऊपर अत्यन्त महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है क्योंकि उन्हें यह देखना होता है कि जिस धन की अभियाचना की जा रही है उसकी स्वीकृति उचित अधिकार द्वारा दी गयी है अथवा नहीं।

4. वित्तीय कोष का लेखांकन – वित्तीय कोषों के लेखांकन से तात्पर्य वित्तीय लेन–देन का क्रमबद्ध एवं सम्पूर्ण हिसाब–किताब रखना है। बजट के नियन्त्रण के लिए लेखा काफी महत्व रखता है। इन लेखाओं के द्वारा ही पता लग सकता है कि बजट की धाराओं का ठीक से पालन हो रहा है या नही। भारत में लेखांकन को कार्यपालिका से अलग करके उसके लिए लेखा तथा अंवेक्षण विभाग की अलग स्थापना की गयी है।

नियन्त्रक तथा भारत का महालेखापाल इसका प्रमुख होता है। लेखांकन के नियम भारत के लेखा–परीक्षक द्वारा प्रदान किये जाते हैं। इन नियमों के अनुसार लेखाओं की तैयारी चार स्तरों पर सम्पादित होती है–प्रारम्भिक लेखा–प्रविष्टि उपकोषागार स्तर पर होती है। जहाँ लेन–देन होता है, व्यय शीर्षों के अनुसार सभी लेन–देनों का ब्यौरेवार वर्गीकरण, लेखाधिकारियों द्वारा लेखों का मासिक संकलन, और भारत के महालेखा परीक्षक द्वारा लेखों का वार्षिक संकलन।

(5) लेखा–परीक्षण – यह बजट के कार्यान्वयन का अन्तिम एवं महत्वपूर्ण चरण है। इसके अन्तर्गत इस बात का पता लगाया जाता है कि विभाग ने या प्रशासन ने विनियोजित राशि को धाराओं के अनुसार व्यय किया है या नहीं। लेखा–विभाग का सर्वोच्च अधिकारी भारत का महालेखा परीक्षक होता है। इसका प्रमुख कार्य यह देखना होता है कि धन को व्यय करने में संसद द्वारा निर्धारित सीमाओं का पालन किया गया है अथवा नहीं। लेखा–परीक्षण प्रशासन पर वित्तीय नियन्त्रण स्थापित करने का एक महत्वपूर्ण धन है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. बजट से क्या तात्पर्य है? बजट के निर्माण के विभिन्न चरणों को स्पष्ट कीजिए।
2. ठोस बजट निर्माण के क्या सिद्धान्त हैं? भारत में वे कहां तक उपलब्ध हैं?
3. प्रशासन में बजट का क्या महत्व है? बजट को संतुलित ढंग से बनाने के क्या सिद्धान्त हैं?
4 भारत में बजट निर्माण प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

अध्याय - 6

लेखा–परीक्षा व्यवस्था

Audit System

लेखा–परीक्षा किसी भी संस्था के वित्तिय नियत्रण में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके द्वारा हम यह देख सकते है कि उस सस्था के अधिकारियों तथा कर्मचारियों ने उन्हें सौंपे गए कार्यों को सम्पन्न करने के लिए जो आर्थिक भुगतान किए है वे नियमानुसार ठीक किए हैं अथवा नहीं। उन्होंने उन भुगतानों में कोई हेरा–फेरी, लापरवाही अथवा फिजूलखर्ची तो नहीं की है। प्रो. के. एल. हाण्डा के शब्दों में, ''लेखा–परीक्षा किसी लेखा–परीक्षक द्वारा लेन–देन की छानबीन करके लेखों के परीक्षण के परिणामों का उस उद्यम के मालिकों को प्रतिवेदन देना है।'' राबर्ट एच मान्टगुमरी के अनुसार लेखा–परीक्षा किसी व्यवसाय या सगठन की लेखा पुस्तकों तथा प्रलेखों का एक व्यवस्थित परीक्षण है जिसके माध्यम से वित्तीय क्रियाओं तथा उनके परिणामों से सम्बन्धित तथ्यों को मालूम करके तथा उनका प्रमाणीकरण करके उसके विषय में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जा सके।''

प्रजातांत्रिक सरकार में लेखा–परीक्षा विधानपालिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण के एक प्रभावशाली संयंत्र क रूप में कार्य करती है। विधानपालिका का यह कर्तव्य बन जाता है कि वह यह जांच रखे कि जो धन इसने कार्यपालिका को विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए उपलब्ध करवाया है, कार्यपालिका उसका सही उपयोग कर रही है। जेम्ज सी. चार्ल्सवर्थ (James C.Charlesworth) के शब्दों में, ''लेखा परीक्षा का अभिप्राय है उस प्रक्रिया से है जो यह सुनिश्चित करती है कि प्रशासन ने विधानपालिका प्रपत्र द्वारा विनियोजित धन को इसकी शर्तों के अनुसार खर्च किया है तथा कर रहा है।

सरकारी लेखा–परीक्षण एक तकनीकी तथा कठिन कार्य है। भारत में यह कार्य लेखा–परीक्षा विभाग द्वारा किया जाता है। लेखा–परीक्षा का प्रतिवेदन विधान पालिका को भेजा जाता है। विधानपालिका इस प्रतिवेदन के माध्यम से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। इसीलिए लेखा–परीक्षा के महत्त्व का वर्णन करते हुए प्रेमचंद ने कहा है, ''लेखा–परीक्षा, न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा विधानपालिका की तरह प्रजातंत्र की एक महत्त्वपूर्ण संघटक है। इसका मुख्य उद्देश्य यह आश्वस्त करना है कि सरकारी निधि को खर्च करने की प्रक्रिया में वित्तीय औचित्य के सभी अभिनियमों का पालन किया गया है, सरकारी खर्च को नियमन करने वाले सभी नियमों तथा विनियमों का अनुपालन कर लिया गया है, खर्च उसी प्राधिकारी द्वारा किया गया है जिसे इसे खर्च करने की शक्ति दी गई है तथा उसका उसी उद्देश्य के लिए इसे संसद ने विनियोजित किया है।''

लेखा–परीक्षा के प्रकार

Types of Audit

लेखा–परीखा के निम्न दो प्रकार होते हैं–

(अ) आंतरिक लेखा–परीक्षा तथा (ब) बाह्य लेखा–परीक्षा।

आंतरिक लेखा–परीक्षा प्रबंध के द्वारा अपने ही स्तर पर अपने ही आधिकारियों द्वारा क्रियान्वित की जाती है। इसका मुख्य उद्देश्य प्रबंध द्वारा यह सुनिश्चित करना है। कि वह कहा तक अपने उद्दश्यों की प्राप्ति के लिए ठीक ढंग से खर्च कर रहा है आंतरिक अधिकारी यही भी देखते है कि उस उद्यम अथवा संस्था के लोग कहां तक नियमों तथा विनियमों का पालन कर रहे हैं। किन्तु आंतरिक अधिकारियों द्वारा जांच के कारण तथा उद्यम अथवा संस्था के

मुख्य कार्यपालिका अधिकारी का बोलबाला होने के कारण प्रायः नियमों व विनियमों के उल्लंघन को बहुत अधिक गम्भीरता से नहीं लिया जाता।

बाह्य–लेखा – परीक्षा प्रबंध के बाहर किसी अन्य अभिकरण द्वारा की जाती है। साधारणतया यह लेखा–परीक्षा विभाग के कुशल अधिकारियों द्वारा की जाती है। वे उस विभाग, उधम, अथवा संस्थान द्वारा किए गए खर्च की छान–बीन करते है। वे पूरा प्रयत्न करके यह सुनिश्चित करते है कि व्यय सरकार द्वारा बनाये गए नियमों तथा विनियमों द्वारा किया गया है, विधानपालिका द्वारा जिस उद्देश्य के लिए इसका विनियोजन किया गया ाि उसी उद्देश्य के लिए व्यय किया गया है। तथा जिस प्राधिकारी द्वारा व्यय किया है वह उस व्यय को करने के लिए सक्षम है।

वित्तीय ईमानदारी के ऊंचे मानदण्ड बनाये रखने के लिए तथा करदाताओं के हितों की रक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि लेखा परीक्षा बाह्य अभिकरण द्वारा ही करवाई जाए। जो अधिकारी लेखा–परीक्षा करें वे स्वतंत्र होने चाहिए। जिस सस्था, विभाग अथवा उद्यम की वे लेखा–परीक्षा कर रहे हों उसके वे किसी भी प्रकार के दबाव अथवा प्रभाव से मुक्त होने चाहिए। इसी कारण भारत सरकार ने नियंत्रक एवं महालेखा–परीक्षक की स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए संवैधानिक सुरक्षाए प्रदान की है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 148 के अनुसार नियंत्रक एवं महालेखा–परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है। उसे उसी प्रकार तथा उन्हीं कारणों के आधार पर पदच्युत किया जाता है जिन पर उच्चतम न्यायालय के न्यायधीश को किया जाता है। इसी अनुच्छेद के अनुसार सेवानिवृति पर वह भारत सरकार अथवा राज्य सरकार के अधीन किसी भी पद को ग्रहण करने के अयोग्य हो जाता है। उसके वेतन व भत्ते भारत की संचित निधि से दिये जाते हैं।

लेखा–परीक्षा के उद्देश्य

Aims of Auditing

लेखा–परीक्षा साधारणतया अभिलेखों का कार्योंतर सत्यापन ही होता है। इसके निम्न उद्देश्य होते हैः

1. लेखों की शुद्धता तथा सम्पूर्णता को सुनिश्चित करना,
2. व्यय की नियमितता को सुनिश्चित करने के लिए लेखों की परीक्षा करना,
3. वित्तीय लेन–देन औचित्य को देखना,
4. यह सुनिश्चित करना कि कार्यपालिका द्वारा व्यय किए गए धन से वांछित परिणाम निकले हैं।

उन उद्देश्यों का वर्णन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं

1. लेखों की शुद्धता तथा सम्पूर्णता को सुनिश्चित करना – लेखों का पूरी तरह से हिसाब–किताब रखना कार्यपालिका को सुपुर्द की गई धन राशि के प्रति उत्तरदायित्व की प्रथम आवश्यकता है। लेखा–परीक्षा संहिता (Audit Code) के अनुसार इस सम्बन्ध में लेखा–परीक्षा के निम्नलिखित कार्य हैं। (अ) लेखों की सत्यता तथा सम्पूर्णता को सुनिश्चित करना, (ब) यह सुनिश्चित करना कि सभी राजस्व तथा प्राप्तियां उचित मदों के अधीन दर्ज की गई हैं, तथा (स) यह भी जांचना कि सभी व्ययों तथा भुगतानों की ठीक रसीद रखी गई है तथा उनका सही वर्गीकरण किया गया है।

   इसके अतिरिक्त लेखा–परीक्षा का काम यह भी देखना है कि कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत किए गए लेखों में अनुदानों द्वारा दी गई ठीक राशि को दर्शाया गया है अथवा नहीं तथा व्यय की गई राशि अनुदानों द्वारा उक्त व्यय के लिए उपलब्ध थी अथवा नहीं। जिन संस्थाओं के लेखों की देख–रेख के लिए भारत के

लेखा–परीक्षा एवं लेखा विभाग उत्तरदायी हैं उनकी यह पूरी तरह से जांच रखता है, किन्तु जिन लेखों की देख रेख उनका प्रशासनिक विभाग करता है उनकी भी वर्गीकरण की जांच के लिए लेखा–परीक्षा एवं लेखा विभाग नमूने के लिए जांच करता है। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक को संविधान के अधीन संसद द्वारा विनियोजित धन के व्यय के लेखों की जांच करने का अधिकार है।

2. व्यय की नियमितता को सुनिश्चित करना – पारम्परिक रूप में भारत में लेखा–परीक्षा का काम व्यय की नियमितता को ही सुनिश्चिता करना रहा है। यह यही जांच करता रहा है कि व्यय उचित प्राधिकार से किया गया है। लेखा–परीक्षा के इस दृष्टिकोण के अनुसार वैधता को ही सुनिश्चित करना लेखा परीक्षा का प्रधान कार्य रहा है। इसके अनुसार लेखा–परीक्षा का काम यही देखना रहा है कि भुगतान उचित रूप से प्राधिकृत है तथा निर्धारित फार्मों पर उचित रसीदों द्वारा सज्जित है।

भारत के लेखा–परीक्षा संहिता में वे नियम विस्तृत रूप से लिखे गए हैं जिनके अनुसार व्यय की नियमितता को सुनिश्चित किया जाता है।

सरकारी लेखा–परीक्षा दोहरा काम करती है। विधानपालिका की ओर से यह सुनिश्चित करती है कि कार्यपालिका संविधान के अनुबंधों के अनुसार कार्य करती है तथा विधानपालिका द्वारा बनाये गये कानूनों का अनुसरण करती है। कार्यपालिका की ओर से यह व्यय करने वाले अभिकरणों से वह सुनिश्चित करती है कि वे समर्थ प्राधिकारियों द्वारा बनाये गए नियमों, विनियमों तथा आदेशों का पालन कर रहे हैं। कार्यपालिका नियम तथा विनियम बनाती है, तथा आदेश देती है। लेखा–परीक्षा का यह कर्तव्य है कि वह यह जांच करे कि अधीनस्थ प्राधिकारी इन नियमों, विनियमों तथा आदेशों का पालन कर रहे हैं अथवा नहीं। नियम व विनियियम निर्धारित करना लेखा–परीक्षा का कार्य नहीं किन्तु लेखा–परीक्षा यह अवश्य जांच करती है कि कार्यपालिका द्वारा निर्धारित नियम, विनियम तथा आदेशः

(अ) संविधान के अनुबंधों अथवा उनके अधीन बनाये गए कानूनों के अनुसार है,

(ब) नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा निर्धारित लेखा तथा लेखा–परीक्षा की आवश्यकताओं के अनुकूल है,

(स) किसी उच्चतर प्राधिकारी के आदेशों अथवा नियमों के विरुद्ध तो नहीं है, तथा

(द) जिस प्राधिकारी ने उन्हें बनाया है उसके पास नियम बनाने के लिए आवश्यक शक्तियां हैं।

इस प्रकार से व्यय की नियमितता की जांच करने के कारण लेखा–परीक्षा अर्ध–न्यायिक प्रकार का काम करती है।

3. वित्तीय लेन–देन के औचित्य को देखना – लेखा–परीक्षा का काम केवल नियमित्ता देखना नहीं है अपितु यह भी देखना है कि व्यय कहीं अनुचित, परिहार्य अथवा निष्फल तो नहीं है। लोक हित में खर्च की नियमित्ता देखना ही पर्याप्त नहीं है, यह भी देखना अनिवार्य है कि लोक सम्पति का सही प्रयोग किया गया है अथवा नहीं। किसी भवन के निर्माण में खर्च विधानपालिका द्वारा विनियोजित धनराशि द्वारा ही किया गया हो, उसका लेखा उचित शीषो क अधान स्पष्ट ढंग से लिखा गया हो, धन का लेन–देन सही रसीदों द्वारा किया गया हो, किन्तु यदि इस प्रकार के बनाय गए भवन का बहुत समय तक प्रयोग ही न किया गया हो तो इसे हम निष्फल कह सकते हैं । लेखा परीक्षा का काम इस प्रकार के व्यय को भी बताना है। प्रो. के एल. हाण्डा के शब्दों में, ''अतः लेखा–परीक्षा को लेन–देन की बुद्धिमता, ईमानदारी तथा मित व्ययता को ध्यान में रखकर वित्तीय नैतिकता के स्तरों को सुनिश्चित करने का प्रयत्न करना चाहिए।''

लेखा–परीक्षा में औचित्य को निर्धारित करने के लिए नियम बनाना बहुत कठिन है। औचित्य तो लेखा–परीक्षा करने वाले अधिकारी की साधारण बुद्धि विवेक तथा न्यायशीलता पर ही आधारित है। किन्तु फिर भी लेखा–परीक्षा सहिता ने वित्तीय औचित्य के मापदण्ड बनाने के लिए निम्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया हैः

(अ) व्यय प्रथम दृष्टि में अवसर की माँग से अधिक नहीं होना चाहिए। हर लोक अधिकारी को लोक वित्त से धन व्यय करते समय उसी जागरूकता का अनुसरण करना चाहिए जो साधारण बुद्धिमत्ता वाला पुरुष अपना धन खर्च करते समय करता है।

(ब) किसी भी प्राधिकारी को अपनी व्यय को स्वीकृति देने की शक्तियों के अधीन ऐसे आदेश नहीं देने चाहिए जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसका अपना ही लाभ होता है।

(स) लोक वित्त का किसी विशेष व्यक्ति अथवा समुदाय के किसी भाग के लिए प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि व्यय की राशि बहुत ही मामूली न हो अथवा वह व्यय किसी नीति अथवा रिवाज के अनसरण के लिए किया गया हो।

(द) भत्तों की राशि, जैसे कि यात्रा भत्ते, जब किसी प्रकार के व्यय के लिए दी जाती है तो वह इस प्रकार से नियमित होनी चाहिए कि वह प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिए एक लाभ का स्रोत नहीं बननी चाहिए।

संक्षेप में, यह प्रशासनिक विभाग का कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक व्यय में मितव्वयता बर्ते। लेखा परीक्षा विभाग का कर्तव्य है कि वह अनुचित, परिहार्य एवं निष्फल व्यय के बारे में उचित प्राधिकारियों को सूचित करें।

4. वाछित परिणामों के लिए लेखा–परीक्षा – भारतीय लेखा–परीक्षा एवं लेखा विभाग द्वारा की गई परीक्षा लगभग सभी मामलों में कार्योतर होती है। व्यय हो चुकने के पश्चात् की गई हानि को समाप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु इसकी प्रभावशीलता इस बात पर आधारित होती है कि वह लेखा परीक्षा के समय पाई जाने वाली सभी अनियमितताओं तथा कमियों को उचित प्राधिकारियों को ईमानदारी से प्रतिवेदन के रूप में लिखकर बताए तथा बाद में लोक लेखा समित्तियो के माध्यम से संसद अथवा सम्बन्धित राज्य विधान सभा को इसका प्रतिवेदन दे।

लेखा परीक्षा की यह मांग है कि लेखा परीक्षा अधिकारी सम्बन्धित प्रशासनिक अधिकारियों को समय–समय पर अनियमिताओं के बारे में परिचित कराते रहें, यह भी देखते रहें कि प्रशासनिक अधिकारी उन अनियमितताओं को दूर कर रहे है या नहीं। यदि व्यय की गई राशि को पुनः वापिस लेना हो तो शीघ्रता से वापिस लें। इस प्रकार काम करने पर ही लेखा–परीक्षा अधिकारी वांछित परिणामों के लिए लेखा–परीक्षा कर पायेंगे।

प्राप्तियों की लेखा–परीक्षा

व्यय की लेखा–परीक्षा के साथ आय की लेखा–परीक्षा करना भी लेखा परीक्षा का उद्देश्य है। भारतीय लेखा–विभाग अब केन्द्र तथा राज्यों की प्राप्तियों की भी लेखा–परीक्षा कर रहा है। भारतीय लेखा–परीक्षा लेखा विभाग ने 1950 के दशक के अन्तिम वर्षों में केन्द्रीय स्तर पर आयकर, सीमा शुल्क तथा उत्पादन शुल्क की लेखा–परीक्षा करके इस दिशा में शुरुआत की। बाद में इसने राज्य स्तर पर भी बिक्री कर तथा राज्य उत्पादन शुल्क की प्राप्तियों की भी लेखा–परीक्षा की।

अधिनियम 1971 के अनुसार लेखा–परीक्षा के कार्यक्षेत्र में कर–सम्बन्धी तथा गैर–कर सम्बन्धी दोनों प्रकार की प्राप्तियां हैं। प्राप्तियों की लेखा–परीक्षा में लेखा–परीक्षा विभाग का कार्य यह देखना है कि पर्याप्त विनियम तथा पद्धत्तियां बना ली गई है। तथा राजस्व विभाग के द्वारा इनका सही पालन किया जा रहा है। इन विनियमों तथा

पद्धतियों का उद्देश्य संसाधनों के उचित निर्धारण, उगाही, तथा बंटवारे पर प्रभावशाली नियन्त्रण करना है। राजस्व विभाग का काम अर्ध–न्यायिक प्रकार का होता है। निर्धारण करते समय इसे अपने विवेक का प्रयोग करना पड़ता है। लेखा परीक्षा विभाग का यह कर्तव्य है कि वह यह देखें कि राजस्व विभाग ने अपना यह विवेक समझदारी से प्रयुक्त किया है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में जहां तक कानून की व्याख्या का प्रश्न है वह तो भारत के उच्चतम न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में है।

निष्पादन लेखा–परीक्षा (Performance Audit)

लेखा–परीक्षा के नियमितता तथा औचित्य सम्बन्धी दृष्टिकोण से हम केवल लेन देन की ही जांच कर सकते हैं। यह किसी योजना अथवा कार्यक्रम का सामूहिक रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकते जिससे वह लेन–देन सम्बन्धित होता हैं । अतः किसी संस्था के कार्यकलापों का उसके उद्देश्यों अथवा कार्यक्रमों के अनुसार मूल्यांकन उपरिलिखित दोनों दृष्टिकोणों से नहीं हो पाता। आधुनिक युग में सरकारे अपनी बहु–मुखी योजनाओं द्वारा बहुत से सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहती है। विभिन्न देशों की सरकारों ने विभिन्न समाज कल्याण की योजनाओं को प्रारम्भ किया है। अतः यह जानना बहुत आवश्यक हो गया है कि संसाधनों पर किया गया खर्च क्या प्राप्त किए गए परिणामों के अनुकूल है अथवा नहीं।

सरकार के सामाजिक–आर्थिक कार्यक्रमों में बहुत मात्रा में भाग लेने से लेखा–परीक्षा के सम्बन्ध में अब नई धारणा जन्म ले चुकी है। लेखों की पूर्णता, नियमितता तथा औचित्य के महत्व को झुठलाया नहीं जा सकता। उनका वित्तीय उत्तरदायित्व को निर्धारित करने में अपना ही महत्व है। परन्तु अब नई विचारधारा के अनुसार लेखा–परीक्षा को विभिन्न विभागों के कार्यक्रमों, क्रियाकलापों तथा परियोजनाओं की भौतिक उपलब्धियों की छान–बीन करना लेखा–परीक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाने लगा है। इस प्रकार की लेखा–परीक्षा को निष्पादन लेखा–परीक्षा, अथवा कार्यकुशलता लेखा–परीक्षा अथवा संक्रियात्मक लेखा परीक्षा कहा जाता है।

निष्पादन लेखा परीक्षा का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि संसाधनों का सर्वाधिक ढंग से परिनियोजन करके उनका कुशलतम उपयोग किया गया है या नहीं। संसाधनों के प्रयोग से उत्पादन में वृद्धि हुई है अथवा नहीं। पारम्परिक बजट तो केवल वेतन, भत्तों, दफ्तर की कुछ आवश्यकताओं, भवनों तथा वाहनों आदि मदों से ही सम्बिन्धित था। किन्तु निष्पादन बजट विभिन्न कार्यक्रमों, क्रियाकलापों तथा परियोजनाओं से सम्बन्धित है। अतः निष्पादन लेखा परीक्षा को इन सबकी जांच करनी आवश्यक होती है।

किसी भी कार्यकलाप का मूल्यांकन करते समय हमें उसके उद्देश्यों को जानना आवश्यक होता है। ये उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किए जाने चाहिए जिससे हम उन्हें माप सके। सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति तथा उपलब्धियों को मापने के लिए सूचक बनाए जाने चाहिए। यह सब कुछ कठिन काम है। इसके बिना किसी भी कार्यक्रम, क्रियाकलाप अथवा परियोजना का मूल्याकन करना बहुत कठिन हो जाता है। इसी कारण सरकार ने लेखा–परीक्षा विभाग को संचेत करते हए संसद में 1977 में अपने प्रतिवेदन में कहा, ''नियंत्रक एवं महालेखाकार यदि लेखा–परीक्षा करते समय एक–एक गलती पर ध्यान देने की अपेक्षा वित्तीय प्रक्रिया पर ध्यान दे तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु फिर भी ये अनुभव किया जा रहा है कि लेखा–परीक्षा की क्रिया के कार्यक्षेत्र में प्रबंधकीय उत्तरदायित्वों की वृद्धि करने से अथवा कार्यकुशलता सहित औचित्य लेखा–परीक्षा को सम्मिलित करने से दुष्प्रभाव हो सकते हैं तथा इससे सरकारी काम काज की कुशलता में रुकावट पड़ सकती है। अतः सरकार इस संस्तुति का समर्थन नहीं करती।''

लेखा–परीक्षा की भावी विकास संभावनाएँ

लेखा–परीक्षा के कार्य–क्षेत्र तथा दृष्टिकोण में धीरे–धीरे बहुत विकास एवं परिवर्तन हो रहे हैं। आरम्भ में इसका उद्देश्य केवल लेखा–विधि, नियमित्ता, तथा विनियोजन आदि की परीक्षा करना ही था। किन्तु बाद में

धीरे–धीरे औचित्य, निष्पादन सहित कार्यकुशलता भी लेखा–परीक्षा की परिधि में आ गये। कुछ वित्त प्रशासन के विद्वानों के अनुसार निकट भविष्य में दो और विकास लेखा–परीक्षा के क्षेत्र में होंगे। ये विकास हैंः (अ) व्यवस्था लेखा–परीक्षा तथा (ब) सामाजिक लेखा–परीक्षा।

इनका संक्षिप्त वर्णन हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं.

व्यवस्था लेखा–परीक्षा

व्यवस्था से साधारण अभिप्राय है विभिन्न स्वतन्त्र एवं अन्तः क्रियाओं तथा भागों में इस प्रकार समन्वय से काम करना ताकि वे उस सस्था के उद्देश्यों को प्राप्त कर सके। व्यवस्था लेखा परीक्षा का उद्देश्य यह पता लगाना है कि अमुक संस्था द्वारा अपना गई व्यवस्था तथा पद्धतियां इसके उद्देश्यों को मितव्यता तथा कार्यकुशता से प्राप्त करने में सहायक है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त व्यवस्था लेखा–परीक्षा यह भी पता लगाती है कि अमुक संस्था द्वारा कार्य–अकुशलता, गलतियों तथा धोखाधड़ी से बचने के लिये उपयुक्त नियन्त्रण, रोकथाम तथा संतुलन विकसित कर लिए गये हैं या नहीं। यदि लेखा–परीक्षा को यह संतोष हो जाता है कि इस प्रकार की व्यवस्था अमुक संस्था में विकसित हो गई है तो यह निश्चय ही समझ सकती है कि जिस लेन–दन की परीक्षा की गई है, वह प्रभावशाली है तथा वह संस्था अपने संसाधनों का कार्यकुशलता एवं मितव्यता से प्रयोग कर रही हैं।

व्यवस्था लेखा परीक्षा किसी संस्था के प्रबंध के प्रभावशाली बनने में सहायक हो सकती है। इसकी सफलता के लिये हमें सस्था का विश्लेषण करना पड़ेगा। श्रेष्ठ लेखा पद्धति, आन्तरिक नियंत्रण व्यवस्था, निष्पादन प्रतिमान, अभिलेखा व्यवस्था, आन्तरिक लेखा परीक्षा, कार्यकलापों के पुनरीक्षण तथा मूल्यांकन व्यवस्था आदि को विकसित करना व्यवस्था लेखा–परीक्षा को अपनाने के लिए पूर्व आवश्यकतायें हैं। यह प्रसन्नता का विषय है कि भारतीय लेखा–परीक्षा एवं लेखा विभाग ने इस दिशा में कुछ शुरुआत की है।

सामाजिक लेखा–परीक्षा

सामाजिक लेखा–परीक्षा का उद्देश्य यह जांचना है कि अमुक संस्था ने किस सीमा तक अपने ग्राहकों, कर्मचारियों, मालिकों, स्थानीय समुदाय तथा समाज के प्रति अपने सामाजिक तथा नैतिक कर्तव्यों को निभाया है। सामाजिक लेखा–परीक्षा का विकास पिछले दशक में वातावरण को सुरक्षित रखने, उपभोक्ताओं की सुरक्षा तथा कार्यकर्ताओं के कल्याण के प्रति बढते हुये ध्यान के कारण हुआ है। लेखा–परीक्षा के इस दृष्टिकोण में सामाजिक लाभ तथा लागत को पहचानना तथा उनका मुद्रा सम्बन्धी परिमाण करना बहुत कठिन है। सामाजिक लेखा–परीक्षा की सफलता के लिए हमें कुशल तथा प्रभावशाली सुचना व्यवस्था को विकसित करने की आवश्यकता है ताकि हम यह जान सके कि अमुक सस्था से ग्राहक कहां तक प्रसन्न है, कहां तथा कर्मचारियों के कल्याण के लिये छुट्टियो, भत्तो, मकानो तथा अन्य सुविधाओं को उपलब्ध करवाया गया है। कहां तक वातावरण को स्वस्थ रखने के लिये योगदान किया गया है, आदि, आदि।

लेखा–परीक्षा की सीमाएँ

भारत में लेखा– परीक्षा में काफी विकास हो जाने के बाद भी भारतीय लेखा–परीक्षा की निम्न सीमायें ध्यान देने योग्य है।

1. गोपनीय सेवा सम्बन्धी व्यय (गृह मंत्रालय से दिया गया प्रमाण–पत्र कि अमुक राशियां प्रयोग कर ली गई है।) को लेखा–परीक्षा में स्वीकार कर लिया गया है। इसे लेखा–परीक्षा की दृष्टि से पर्याप्त मान लिया जाता है।
2. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को दिए गए अनुदान।

3. एक लाख रुपए से कम आवर्ती राशि तथा 5 लाख रूपए से कम अनावर्ती राशि प्राप्त करने के लिए गैर–सरकारी संस्थाओं को दिए गए अनुदान, तथा

4. स्थानीय प्राधिकारकों को दिए गए अनुदानों की लेखा–परीक्षा स्थानीय निधि लेखा–परीक्षा द्वारा की जाती है। ये अधिकारी राज्य सरकार के कर्मचारी होते हैं, लेखा–परीक्षा विभाग के नहीं।

समीक्षा / आलोचना

भारतीय लेखा–परीक्षा के दोषों का संक्षेप में हम इस प्रकार से वर्णन कर सकते हैं:

1. रूढ़िवादी दृष्टिकोण का अत्यधिक प्रभावः लेखा परीक्षा के दृष्टिकोण में बहुत परिवर्तन आ जाने के बावजूद भी भारतीय लेखा–परीक्षा में अभी भी नियमितता तथा विनियोजन पर ही जोर दिया जा रहा है। निष्पादन तथा दृष्टिकोण को अभी तक ठीक ढंग से अपनाया नहीं जा सका है। न ही इस दृष्टिकोण के अनुसार मापदण्ड तथा सूचना व्यवस्था को विकसित किया जा रहा है।

2. लेखा परीक्षा में अत्यधिक देरीः निस्संदेह भारतीय लेखा–परीक्षा कार्योतर ही है। फिर भी इसमें अत्यधिक देरी की जाती है। बहुत बार भुगतान हो चुकने के पांच–छः वर्ष बाद लेखा–परीक्षा की जाती है। जब तक इसका प्रतिवेदन विधान पालिका तक पहुंचता है तथा लोक लेखा समिति इस पर अपने विचार प्रकट करती है तब तक सम्बंधित अधिकारी या बदल जाते हैं, या सेवानिवृत हो जाते हैं, अथवा मर ही जाते हैं। प्रशासनिक विभाग भी कई बार लेखा–परीक्षा की आपत्तियों का उत्तर टालमटोल के रूप में दे देते हैं। इस प्रकार लेखा–परीक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता।

3. लेखा–परीक्षकों का व्यवहारः लेखा–परीक्षकों का व्यवहार प्रायः गलतियां ही निकालने के बारे मे जोर देने से बहुत कठोर हो जाता है। बहुत बार आपत्तियां केवल आपत्तियां ही ढूँढ निकालने के कारण की जाती हैं। इस प्रकार लेखा–परीक्षा विभाग तथा प्रशासनिक विभाग दोनों का समय व्यर्थ के पत्राचार में नष्ट हो जाता है। अनेक बार लेखा परीक्षक लकीर के फकीर होने के कारण छोटे–छोटे मामलों को निपटाने में बहुत समय व्यर्थ में गँवाते हैं।

इन सब कमियों के बावजूद भी भारतीय लेखा परीक्षा बहुत ही सराहनीय कार्य कर रहा है। इसने मुद्रा सौदे सम्बन्धी मामले, दूध क्रय करने से सम्बन्धित मामले, बोफोर्स सम्बन्धी मामले तथा कई अन्य मामलों में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

सुझाव

धीरेन्द्र कृष्ण ने अपने लेख वित्तीय प्रशासन को सुधारने में लेखा–परीक्षा की भूमिका' में लेखा–परीक्षा के महत्व तथा इसमें सुधार पर निम्न सुझाव दिये हैं

(1) निष्पादन बजट को सार रूप में लेखा–परीक्षा द्वारा कार्यान्वित करना।

(2) सूचना व्यवस्था का निर्माण करना।

(3) दीर्घकालीन तथा मध्यवर्ती योजनाओं में सम्पर्क बनाना।

(4) कार्यकुशलता सहित निष्पादन लेखा–परीक्षा के लिए विशेषज्ञता को अपनाना।

(5) विशेषज्ञ – कोष्ठों की आवश्यकता।

(6) निरीक्षण प्रतिवेदनों में समग्र उद्देश्यों का समावेश करना।

(7) लेखा–परीक्षा के दृष्टिकोण में परिवर्तन।

(8) प्रशिक्षण तथा संस्थात्मक विकास।

(9) प्रतिवेदनों को सुप्रवाही बनाना।

उपरलिखित सुझावों के अतिरिक्त निम्न सुझाव भी लेखा–परीक्षा में सुधार लाने के लिए आवश्यक है।

(10) प्रशासनिक सुधार आयोजन ने सुझाव दिया है कि लेखा–परीक्षा को सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिये। बहुत सी अनियमितताओं का प्रशासनिक विभाग से विचार विमर्श करके ही निपटारा कर लेना चाहिये। उन्हें व्यर्थ में ही प्रतिवेदन में नहीं शामिल करना चाहिये।

(11) लेखा–परीक्षा का विकेन्द्रीकरण, लेखा–परीक्षा के विभाग के निम्न अधिकारियों को भी नगण्य धन राशियों की अनियमितताओं का निपटारा करने की शक्तियां प्रदान की जानी चाहिए। थोड़ी राशि के लिए भी उच्च अधिकारियों को ही अधिकार होने से कार्य में अकुशलता होती है।

(12) आन्तरिक लेखा–परीक्षा को विकसित करना। इससे बहुत से मामलों में अनियमितताओं का निपटारा प्रशासनिक विभाग में ही सम्भव हो सकता है। लेखा–परीक्षा विभाग अपना समय व्यवस्था लेखा–परीक्षा तथा सामाजिक लेखा–परीक्षा में लगा सकता है।

(13) जिन नियमों तथा विनियमों पर लेखा–परीक्षा विभाग द्वारा बार–बार आपत्तियां उठाई जाती हो, उनका पुनरीक्षण करना चाहिए। इस पुनरीक्षण में लेखा–परीक्षा विभाग, प्रशासनिक विभाग, तथा लोक प्रशासन के विशेषज्ञों को आपस में विचार करके, उन नियमों तथा विनियमों में सुधार करना चाहिये।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. लेखा परीक्षा क्या है? इसके कितने प्रकार हैं?
2. लेखा परीक्षा का अर्थ तथा उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
3. लेखा परीक्षा की सीमाओं तथा सुझावों का वर्णन कीजिए।

अध्याय - 7

लोक वित्त पर संसदीय नियंत्रण

Parliamentary Control over Public Finance

वित्त, जिसे प्रशासन का जीवन रक्त कहा जाता है, का महत्त्व शुरू से ही रहा है क्योंकि वित्त के अभाव में न तो कोई प्रशासनिक कार्य संभव हो सकता है और न लोक कल्याण के कार्यक्रमों को कार्यन्वित किया जा सकता है। लेकिन वित्त जिसका संबंध जन प्राधिकारियों की आय व व्यय से है, को नियंत्रण मुक्त नहीं रखा जा सकता है। किसी भी प्रजातंत्रात्क सरकार में सरकारी व्यय पर प्रभावशाली नियंत्रण आवश्यक है। यह नियंत्रण व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका द्वारा स्थापित किया जाता है। संसदीय नियंत्रण के लिए यह आवश्यक है "कि एक तो संसद स्वयं को इस बात के प्रति आश्वास्त करे कि विनियोंजनों का उपयोग अनुमोदित प्रयोजनों के लिए अनुदानों की सीमा में मितव्ययितापूर्वक किया जा रहा है और दूसरे वह (संसद) सरकार के वार्षिक बजट अनुमानों का समुचित परीक्षण करती रहे ताकि उचित नियंत्रण बना रहे और बजट अनुमानों से निहित योजनाओं तथा कार्यक्रमों के पालन में मितव्ययिता संबंधी सुझाव दिये जा सके।" सभी प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं में संसद अथवा व्यवस्थापिका की रचना प्रायः ऐसी होती है कि उसके पास प्रभावी वित्तीय नियंत्रण संबंधी कार्यो को पूरा करने के लिए न तो समय होता है और न आवश्यक शक्ति। इसलिए इन कार्यों को संपन्न करने के लिए विभिन्न देशों में संसदीय समितियों और संस्थाओं का विकास हुआ है। दूसरी और वित्त पर वित्त मंत्रालय तथा विभागीय अध्यक्षों द्वारा नियंत्रण रखा जाता है।

विधानपालिका द्वारा नियंत्रण

हमारे देश में संसदीय सरकार है जहां व्यय पर नियंत्रण के दो मुख्य उद्देश्य है एक तो यह कि कोई व्यय विधान मंडल द्वारा स्वीकृत अनुदानों से बढ़ कर न हो और यदि ऐसा करना भी पड़े तो इसके लिए व्यवस्थापिका से पुनः स्वीकृति ली जानी चाहिए। दूसरा यह कि व्यय किसी प्रकार से अनुचित न हो तथा व्यवस्थापिका द्वार जिन अनुदानों की स्वीकृती दी गई हो उनको खर्च करते समय आवश्यकता एवं मितव्ययिता को ध्यान में रखा जाये। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संसद की स्वीकृति के बिना कार्यपालिका न तो किसी प्रकार कोई व्यय कर सकते है और न ही कोई कर लगा सकती है। वित्त व्यवस्था पर संसद का पूर्ण नियंत्रण रहता है। क्योंकि संसद सदस्य जब चाहे वित्तीय प्रश्न, जो आर्थिक मामलों से जुड़े होते हैं, मंत्रियों से पूछ सकते हैं। संसद जिन अवस्थाओं में नियंत्रण कर सकती है वे हैं विनियोग विधेयक के पारित किए जाने से पहले तथा विनियोग विधेयक या बजट पास होने के बाद।

विनियोग विधेयक के प्राप्ति दोनों से पूर्व नियन्त्रणः संसद द्वारा विनियोग विधेयक के पास होने से पहले जो नियंत्रण किया जाता है वह निम्न प्रकार से होता हैः

सामान्य वाद विवाद

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के शुरू होने अथवा अप्रैल माह के आने से पहले बजट जिसे वित्तीय वार्षिक विवरण भी कहते है, को वित्त मंत्री द्वारा लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है। यह प्रक्रिया उसके बजट भाषण से आरंभ हो जाती है। इस भाषण से भावी करों का अनुमान लगाया जा सकता है। इसके साथ ही सरकार की आर्थिक नीति का पता चलता है। इसमें प्रस्तावित आय–व्ययों के बारे में उल्लेख किया गया होता है। इसकी प्रतियां सांसदों में वितरित की जाती है। लगभग दो दिन के बाद सदस्य बजट में निहित नीतियों पर सामान्य रूप से विचार–विमर्श करते हैं और सरकार की नीति के गुण दोष मात्र का विवेचन करते हैं। सदस्यों द्वारा गत वर्ष जो राशियां खर्च हो

चुकी होती हैं के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती है। सदस्यों द्वारा जो आरोप लगाये जाते हैं उनका उत्तर वित्त मंत्री द्वारा दिया जाता है। इस स्तर पर न तो विवरणों को लिया जाता है और न ही कोई कटौती प्रस्ताव किया जाता है। आमतौर पर सामान्य चर्चा दो–तीन दिन तक चलती है। अवस्थी एवं महेश्वरी के अनुसार, "बजट पर सामान्य चर्चा एक अति प्राचीन परंपरा है। यह उस समय से चली आ रही है जब भारतीय विधानमंडल में केवल अपनी शिकायतें ही रखी जा सकती थी। वर्तमान में इस प्रकार की चर्चा से कुछ लाभ तो होता ही है। सदस्यों को यह अवसर प्राप्त होता है कि वे राजस्व के अनुमानों पर सरकार के कार्यक्रमों एवं पद्धतियों तथा साधनों पर विशेषकर प्रभूत व्ययों पर जो कदाचित् सबसे महत्वपूर्ण होते हैं चर्चा कर सके। इस बहस से करों और अयों के बजट प्रस्तावों पर सदन का क्या रूख होगा, इसकी पूर्व झलक सरकार को मिल जाती है।"

अनुदान मांगों पर मतदान

व्यय के अनुमानों पर मतदान का अधिकार केवल लोकसभा को ही दिया गया है और यह अधिकार राज्यसभा को नहीं दिया गया। प्रभूत व्यय मतदान के लिए नहीं लाया जाता और व्यय से संबंधित उन अंशों पर ही मतदान करवाया जाता है जिन पर ऐसा करवाना संभव हो। मांगों पर मतदान के लिए छब्बीस दिन का समय रखा हुआ है यह समय इंग्लैंड की भांति है। सदन के नेता से परामर्श कर के लोकसभा का अध्यक्ष प्रत्येक विभाग की मांग या मांगों के समूह के लिए और बजट के समस्त व्यय पर मतदान का समय निश्चित करता है। जब किसी मांग के लिए निर्धारित समय समाप्त होता हो तो उसी समय मतदान होता. है, यह आवश्यक नहीं कि उस मांग पर चर्चा पूरी हो उन समस्त मांगों के लिए जो समय या अवधि निश्चित की जाती है उसके अंतिम दिन पांच बजे शाम समूह में मतदान के लिए प्रस्तुत किया जाता है। स्वीकार की गई प्रत्येक माग को अनुदान है। ध्यान देने की बात यह है कि उन मांगों को लोकसभा कम तो कर सकती है पर इनमें वृद्धि नहीं कर सकती, यदि इनको कम किया जाता है तो ऐसी विधि को कटौती प्रस्तावों का नाम दिया जाता है। जो निम्न प्रकार के होते हैं:

1. नीति संबंधी कटौती प्रस्तावः इस प्रस्ताव का उद्देश्य प्रस्तावित व्यय में अपनाई गई नीति का विरोध करना होता है।
2. मितव्ययिता संबंधी कटौती प्रस्तावः मितव्ययिता कटौती का प्रस्ताव का संबंध व्यय में मितव्ययिता से होता है। ऐसे प्रस्ताव द्वारा मांग से प्रस्तावित धन की विशेष राशि को कम करवाने की कोशिश की जाती है। सम्बन्धित वक्तव्य में मितव्ययिता के उपायों पर चर्चा तथा विचार किया जाता है। प्रतीक कटौती प्रस्तावः इस प्रस्ताव द्वारा सरकार का ध्यान मांग से संबंधित किन्ही विशेष शिकायतों की ओर आकर्षित करने की कोशिश की जाती है।
3. प्रतीक कटौती प्रस्तावों का प्रयोग भारतीय संसद द्वारा अधिकतर किया जाता रहा है

   क्योंकि यह प्रस्ताव दूसरों से अधिक अच्छे माने जाते हैं।

"अंत में, वित्त मंत्री को अवसर दिया जाता है कि वह शिकायतों का उत्तर दें। जबकि उसके विचार से कोई उपवाद उचित दिखाई देता है, तब वह सरकार की ओर से सदन को आश्वासन देता है कि वह कमी दूर कर दी जायेगी। इस पर कटौती प्रस्ताव वापस ले लिया जाता है। यदि प्रस्तोता उसको वापस लेने से इन्कार करता है तो मांग बहुमत से स्वीकार की जाती है। सदस्यों को यह सब विधियां मालूम होती हैं और कटौती प्रस्ताव द्वारा संकेत मात्र किया जाता है। वास्तविक कटौती का उद्देश्य नहीं होता। वित्त मंत्री जिस रूप में बजट प्रस्तुत करता है वह उसी रूप में सदन द्वारा स्वीकृत होता है।

विनियोजक विधेयक

सरकार को लोकसभा द्वारा केवल मांगों को स्वीकार कर लेने के सरकारी कोष से धनराशि प्राप्त करने के अधिकार नहीं मिल जाते अपितु इन्हें संसद द्वारा विनियोजन विधेयक पारित होने के बाद ही मिलते हैं। इस प्रकार

हम देखते है कि इसे सरकारी । कोष से धन का व्यय करने के लिए लाया जाता है। विनियोजन विधेयक में मत योग्य व अमतयोग्य अनुदान होते हैं। इस विधेयक में सम्मिलित ऐसे अनुदानों पर चर्चा नहीं होती जिन्हें पहले स्वीकृ त किया जा चुका हो। इसके साथ ही किसी तरह का संशोधन प्रस्ताव भी नहीं किया जाता। लोकसभा द्वारा पारित करने के पश्चात् इस विधेयक को राज्य सभा में भेज दिया जाता है वह इसे चौदह दिन के अंदर लोकसभा को लौटा देती है। इस संसद द्वारा इसे पारित किए जाने के पश्चात् राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है।

करों पर मतदान

वित–विधेयक में आगामी वर्ष के करों के प्रस्ताव होते हैं। इस विधेयक से प्रस्तावित करों के घटाने–बढ़ाने से संबंधित प्रस्ताव नाये जाते हैं। कई बार इन्हें स्वीकार भी कर लिया जाता है। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना रो, को बढ़ाने या नये करो को लगाने से संबंधित प्रस्ताव नहीं लाये जा सकते। इस विधेयक पर चर्चा होने के बाद इसे सदन लोक प्रशासन के तत्व की प्रवर समिति के पास भेजा जाता है जहां इसकी प्रत्येक धारा पर विचार किया जाता है और फिर सदन द्वारा पारित किया जाता है तथा बाद में राज्यसभा और राष्ट्रपति द्वारा विधिवत अनुमोदित किया जाता है। इस प्रकार वित्त विधेयक एक कानून का रूप धारण कर लेता है।

विनियोग विधेयक या बजट पास होने के बाद नियन्त्रण

वित्त पर लोक लेखा समिति, अनुमान समिति तथा लोक उद्यम समिति के माध्यम से नियन्त्रण।

संसद की रचना ऐसे है कि उनके पास इन कार्यों को पूरा करने के लिए न तो समय है और न आवश्यक शक्ति ही। इस कारण कार्यो को संपन्न करने के लिए संसद द्वारा अपने सदस्यों में से कुछ को लेकर तीन समितियों की रचना की जाती है। ये समितियां हैः लोक लेखा समिति, अनुमान समिति तथा लोक उद्यमों पर समिति। इस समितियों के पास उचित अधिकार होते है जिनके अंतगर्त संबंधित रिकार्डो की जांच करती है और छानबीन हेतु गवाहों को अपने पास बुलवा सकती है। प्रायः इन समितियों की जो बैठकें होती है उन्हें गुप्त रखा जाता है।

लोक लेखा समिति

इन संसदीय समिति की स्थापना पहली बार 1923 में की गई। उस समय इसके सदस्य निर्वाचित तथा नामजद होते थे। नये संविधान के लागू होने के बाद इसमें भी परिवर्तन किए गए। शुरू में इस समिति के पंद्रह सदस्य थे वे सभी के सभी लोकसभा से लिए जाते थे। लेकिन सन् 1953 में इसकी सदस्यता को बढ़ा कर 22 कर दिया गया। अब इन 22 सदस्यों में से पंद्रह लोकसभा द्वारा तथा सात राज्य सभा द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के द्वारा प्रतिवर्ष चुने जाते है। समिति का कार्यकाल दो वर्ष का होता है। याद रहे कि मंत्री इस समिति के सदस्य नहीं बन सकते। यदि किसी सदस्य को मंत्री बनाया जाता है तो इस नियुक्ति की तिथि से इसको सदस्यता से अलग कर दिया जाता है। समिति के अध्यक्ष को लोकसभा अध्यक्ष द्वारा नामजद किया जाता है।

कार्य

लोक लेखा समिति के निम्नलिखित कार्य है जिसके बारे में इसे अपने आप को संतुष्ट करना होता है किः

(1) लेखों में व्यय के रूप में जिन राशियों को दिखाया गया हैं वे इन सेवा प्रयोजनों के लिए विधिवत् उपलब्ध और लगाये जाने योग्य थी जिनमें उन्हें लगाया गया है या भारित किया गया हैः

(2) व्यय नियन्त्रण करने वाली सत्ता के अनुसार हुआ है, तथा

(3) प्रत्येक पूनर्विनियोजन उचित प्राधिकारी द्वारा निर्मित नियमों के अंतर्गत उपबधों के अनुसार हुआ हैं।

इस समिति के अन्य मुख्य कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं :

(1) लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के द्वारा दिये गए प्रतिवेदन के संदर्भ में उन लेखों के विवरणों की जांच करना जिनमें राज्य निगमों, व्यापार तथा निर्माण योजनाओं और परियोजनाओं की आय तथा व्यय को दिखाया गया हैं। इसके साथ साथ उनके ऐसे बकाया पत्रों या लाभ तथा हानि के लेखों की जांच करना जिन्हें तैयार करना राष्ट्रपति आवश्यक समझते हो अथवा जो किसी विशेष निगम व्यापारिक संस्था या परियोजना की वित्त–व्यवस्था को विनियमित करने वाले सांविधिक नियमों के अंतर्गत किए गए हों।

(2) ऐसे स्वायत्तशासी तथा अर्द्ध–स्वायत्तशासी निकायों की आय और व्यय के लेखा विवरणों की जांच करना जिनका लेखा परीक्षक, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक द्वारा राष्ट्रपति के निर्देशों के अंतर्गत या संसद की किसी संविधि के अनुसार संभव हो; तथा

(3) ऐसे मामलों में लेखा–नियंत्रण एवं महा लेखा परीक्षक के प्रतिवेदन विचार पर करना जिनकी किन्हीं प्राप्तियों की लेखा परीक्षा करने या भंडारों तथा सकंधों के लेखाओं का परीक्षण करने को राष्ट्रपति आवश्यक समझते हों।

इस समिति द्वारा कार्य लेखा–नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन के आधार पर सम्पन्न होते हैं। अशोक चंदा के शब्दों में "समिति की प्रभावशीलत उस पूर्णता पर आधारित होती हैं जिस पूर्णता के साथ लेखा–परीक्षण का कार्य संचालित किया गया हैं। इस प्रकार, लेखा परीक्षणकी आलोचना का मूल्य उस समर्थन पर निर्भर करता है जो समिति से प्राप्त होता हैं। इन वित्त पर विधायी नियंत्रण दोनों प्राधिकारियों के कार्य ही परस्पर संबंधित नहीं होते बल्कि उनके संबंध कुछ मात्रा में अन्योन्याश्रित भी होते हैं। इस कथन की पुष्टि, समिति की जांच संबंधी अनेक प्रश्नो से होती है, जिनका सबसे अधिक संबंध परीक्षक द्वारा उठाये गए प्रश्नों से होता है।"

लोक लेखा समिति नियंत्रण एवं महालेखा परीक्षक के प्रतिवेदन की जांच करती है और संसद द्वारा सरकारी व्यय के लिए प्रदत मदों के विनियोगों पर विचार करते समय यह देखती है कि जन व्यय संसद द्वारा स्वीकृत धन से अधिक न हो, अनुदान का उसी उद्देश्य के प्रयोग किया गया हो। जिसके लिए संसद ने स्वीकृति दी थी तथा मांग के अंतर्गत किया गया व्यय केवल अधिकृत सता आयोग द्वारा ही किया गया हो।

समिति को यह अधिकार है कि आवश्यकता के समय व्यक्तियों, कागजों तथा अभिलेखों को तलब कर सके। विचाराधीन लेखों के संबंध में इसके द्वारा विभागीय अध्यक्षों से प्रश्न पूछे जाते हैं। समिति यह पता लगाने का प्रयास करती है कि सरकार ने संसद द्वारा स्वीकत मांगों की परिधि में ही व्यय किया है अथवा नहीं। सभी साक्षियों एवं प्रमाणों का अध्ययन करने के बाद समिति अपने निष्कर्षो को एक प्रतिवेदन में संकलित कर संसद के सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। समिति की सिफारिशों पर सदन में वाद–विवाद नहीं किया जाता, वे सरकार द्वारा यथावत स्वीकार कर ली जाती हैं। कोई मतभेद या संदेह समिति के समक्ष ही व्यक्त किया जा सकता है। समिति उस पर पुनर्विचार करने के बाद अपनी सिफारियों में संशोधन कर लेती है। यदि दोनों पक्षों में समझौता न हो तो अंतिम निर्णय संसद द्वारा लिया जाता है।

ये समिति जन–वित्त या जनता की धन राशि के सरंक्षक के रूप में कार्य करती और संसद के प्रतिनिधि के रूप में सरकारी अभिलेखों का परीक्षण करती हैं। इसने कई सराहनीय कार्य किए हैं इस लिए इसका महत्व बढ़ गया हैं। इस समिति के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए भारत के भूतपूर्व लेखा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक अशोक चंदा ने ठीक ही कहा है कि इस समिति ने लोक व्यय पर नियंत्रण करने वाली एक महान शक्ति का रूप धारण कर लिया हैं।

चाहे कुछ आलोचक इस समिति के बारे में यह कहते हैं कि इसके द्वारा की गई जांच लोक लेखाओं की शव परीक्षा के सामान है पर यह कहना सत्य नहीं क्योंकि इस के द्वारा जांच पड़ताल महत्वहीन नहीं होती, प्रथम लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष भावलांकर के अनुसार यह प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति ऐसा भी है जो इस बात की समीक्षा करेगा कि क्या किया गया है, तथा यह कार्यपालिका के शैथलय या लापरवाही पर बहुत बड़ा प्रतिबंध लगाती हैं। यह परीक्षण यदि उचित रीति से किया जाय तो प्रशासन में सामान्य क्षमता का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। समिति की जांच भावी अनुमानों तथा भावी नीतियों दोनों के लिए ही देती है। इस प्रकार यह समिति सार्वजनिक व्यय पर नियंत्रण का एक अच्छा साधन है यदि इसमें प्रतिनिधित्व करने वाले सांसद दुलगत या घटिया राजनीति के ऊपर उठ कर सही दिशा में कार्य करें।

अनुमान समिति–

अनुमान समिति की स्थापना 10 अप्रैल 1950 को की गई थी उस समय इसकी सदस्य संख्या 25 थी। लेकिन बाद में सन् 1956 में इसे बढ़ा कर 30 कर दिया गया। इस समिति के सभी सदस्य लोक सभा के आनुपातिक प्रतिनिधित्व एकल संक्रमणी मत पद्धति द्वारा चुने जाते हैं। समिति का कार्यकाल एक वर्ष रखा गया है। सदस्य एक से ज्यादा बार चुने जा सकते हैं। किए गए प्रावधान के अनुसार एक तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष सेवा से निवृत हो जाते हैं और फिर नए सदस्य चुने जाते हैं। इस तरह से सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष का रहता है। इस समिति के अध्यक्ष आमतौर पर लोकसभा का उपाध्यक्ष होता हैं। वैसे तो लोकसभा का अध्यक्ष समिति के सदस्यों में से किसी एक को अध्यक्ष मनोनीत कर सकता हैं। अनुमान समिति के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैः

(1) समिति का सर्वप्रथम कार्य अनुमानों के पीछे निहित नीति को ध्यान में रख कर मितव्ययिता सुझाव देना होता हैं।

(2) विकल्पित नीतियों को सुझाना जिससे प्रशासन में बचत तथा कार्य क्षमता लाई जा सके।

(3) समिति को यह देखना होता है कि अनुमानों के वांछित तथ्यों को ठीक प्रकार से रखा गया है या नहीं कहने का भाव की नीति की सीमाओं में रहते हुए धन के किए गए प्रावधान की औचित्यता का प्रशिक्षण करना होता हैं।

(4) इसके द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि अनुमान लेखा किस रूप में संसद में पेश किए जायें।

लोक प्रशासन के तत्व– यह समिति यथा संभव मितव्ययिता के लिए जो सुझाव देती है वे अनुमानों में निहित नीतियों के अनुकूल होते हैं। इस समिति का कार्यक्षेत्र व्यापक माना जाता है। लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष मावलंकर के मतानुसार प्रारंभ में समिति के समक्ष दो लक्ष्य थे। देश की सर्वश्रेष्ठ सरकार तथा सामान्य जनता का लाभ । यदि सूक्ष्म परीक्षण के बाद यह ज्ञात हो जाए कि किसी विशेष नीति का अनुगमन करने से अपार धन नष्ट हो रहा है तो समिति इन दोषों की इंगित करती है तथा सदन में विचारार्थ नीति में परिवर्तन प्रस्तुत करती हैं।

जहां तक इस समिति की कार्य–प्रणाली का संबंध है, इस द्वारा कुछ मंत्रालयों को चुन लिया जाता हैं और फिर यह अपना प्रोग्राम तैयार करती है, जिसके अंतर्गत संबधित मंत्रालयों के संगठन तथा कार्यो के बारे में सूचना एकत्र की जाती है। यह समिति पहले से निर्धारित अनुमानों का परीक्षण करती है, ऐसा करते हुए यह मंत्रालयों से संबंधित कागज–पत्र मंगवाती है, संबंधित अधिकारियों से जानकारी प्राप्त करती है और जिन अनुमानों का परीक्षण किया जाता है उन पर अपना प्रतिवेदन सदन के सामने प्रस्तुत करती है। समिति अपने कार्यों को चलाने के लिए उप–समितियों को गठित कर सकती हैं जो इसके कार्यों में सहायता करती हैं। समिति द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन पर चर्चा नहीं होती। अपितु इस द्वारा जो सिफारिशें की जाती है उनका उल्लेख बजट पर बहस के समय किया जाता है। समिति द्वारा जो सिफारिशें की जाती हैं वे प्रायः किसी विभाग या मंत्रालय के संगठन तथा कार्यप्रणाली में सुधार

लाने से संबंधित होती हैं। इनसे मितव्ययिता को प्राप्त किया जा सकता हैं तथा अनुमानों की प्रस्तुति के साधारण पहलुओं के बारे में मार्ग दर्शन होता है। इस प्रकार यह समिति दूसरी समितियों की तरह एक महत्वपूर्ण समिति मानी जाती है। क्योंकि इस द्वारा जो सुझाव दिये जाते हैं उससे जन–वित्त के अपव्यय तथा फजूलखर्चियों से बचा जा सकता है तथा कार्यकुशलता को सुनिश्चित किया जा सकता है। इसकी बहुत सी सिफारिशें सरकार द्वारा मान ली जाती हैं। जैसा कि तीसरी लोकसभा द्वारा इसकी 97 प्रतिशत सिफारिशों को स्वीकृत किया गया था।

लोक उद्यम समिति

इस समिति की स्थापना 1 मई 1964 को की गई। इसके 15 सदस्य हैं जिनमें से 10 लोकसभा तथा 5 राज्यसभा द्वारा एकल संक्रमणीय मत से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। अनुमान समिति की भांति इस समिति के सदस्यों में से एक तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष सेवा से निवृत हो जाते हैं और उनके स्थान पर नये सदस्यों को चुना जाता है। इसका अध्यक्ष, लोकसभा के सदस्यों में से, लोकसभा अध्यक्ष द्वारा मनोनीत किया जाता हैं।

कार्य –

लोक उद्यम समिति को जो कार्य सौंपे गए है, वे हैं: –

(1) लोक उद्यम के प्रतिवेदनों तथा लेखाओं की जांच करना, जिनकी जांच का कार्य समिति को सौंपा गया है।

(2) लोक लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक के लोक उद्यमों पर प्रतिवेदनों, यदि हों, तो उनकी जांच करना;

(3) लोक उद्यमों की स्वायतता तथा कार्यकुशलता के संबंध में परीक्षण करना ताकि लोक उद्यमों के शासन संचालन एवं प्रबंध व्यवस्था व्यावसायिक सिद्धांतों तथा उपयुक्त वाणिज्यिक नियमों के अनुसार चलने का पता लगाया जा सके; तथा

(4) अन्य कार्य जो समिति को सौंपे गए हो, जिनका सम्बन्ध लोक उद्यमों से हो और वे लोक लेखा समिति तथा अनुमान समिति के कार्य क्षेत्र में आते हों।

वित्त पर नियंत्रण के लिए संसदीय समितियों का होना में अति आवश्यक है। लेकिन कुछ आलोचकों का मत है कि संसद की समितियों के सदस्य विशेषज्ञ नहीं होते इसलिए उनकी भूमिका पूर्ण रूप से अच्छी नहीं रहती है, इसके साथ–साथ यह आरोप भी लगाया जाता है कि सभी मंत्रालयों, विभागों एवं अन्य संगठनों की जांच ये समितियां नहीं कर पाती हैं, इसलिए इनकी भूमिका सीमित रहती हैं। कुछ भी समझा जाए फिर भी इन समितियों के महत्व को कम नहीं किया जा सकता है यदि कुछ कमियां है तो उन्हें दूर कर उन्हें सुधारा जा सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. विधान पालिका लोक वित्त पर किस प्रकार नियन्त्रण करती हैं?
2. संसदीय समितियां किस प्रकार से लोक वित्त नियन्त्रण में भूमिका निभाती हैं?

अध्याय - 8

लोक प्रशासन की जवाबदेही

Accountability of Public Administration

ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजी भाषा में जवाबदेह (Accountable) शब्द का प्रयोग प्रथम बार 1583 वर्ष में वित्तीय संदर्भ में किया गया था। आज भी वित्तीय जवाबदेही धारणा का महत्वपूर्ण भाग है जो एक समाविष्ट धारणा है और इसमें सरकार द्वारा की जाने वाली सभी क्रियायें आ जाती हैं। जवाबदेही होने का अर्थ है सफाई पेश करने के लिये उत्तरदायी। अतः जवाबदेही का अर्थ है कि प्रशासन को जो सत्ता सौंपी गई है उसके प्रयोग के लिए जवाबदेह होना। एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जवाबदेही किस के लिये? इसको निष्पादन से जोड़ा गया है, यह उपलब्धि–उन्मुखी है। ''.....प्रशासनिक जबाबदेही एक संगठनात्मक आवश्यकता है क्योंकि सर्वप्रथम, यह लक्ष्यों के संदर्भ में इसके निष्पादन के मूल्यांकन का प्रयास करती है। लक्ष्य को निश्चित कार्यों और दायित्वों में विभाजित किया जाता है, और प्रशासकों को व्यक्तिगत रूप में पूछा जाता है कि वे बतायें कि वे किस प्रकार अपने दायित्वों को पूरा कर रहे हैं। जवाबदेही प्रशासनिक दायित्व की सहगामी है. दूसरे शब्दों में, सिक्के का दूसरा पहलू है.....यह किसी भी संगठन के अंतर्भूत पदसोपान, नियंत्रण क्षेत्र, आदेश की एकता, निरीक्षण आदि सभी धारणायें जवाबदेही को प्रोत्साहित करने और लागू करने के यंत्र हैं। वार्षिक बजट भी यही करता है.....जवाबदेही का लाभ तभी होता है जब इसको दृढ़ता से और निकट से संगठन के लक्ष्यों और मूल कार्यों से जोड़ दिया जाता है।'' प्रशासनिक जवाबदेही उपलब्ध संसाधनों के अनुकूलन को निश्चित करने के साथ–साथ संगठनात्मक लक्ष्यों को पूरा करने का प्रयास करती है।

जवाबदेही के उपकरण (Tools of Accountability)

लोकतंत्र तथा कुशलता और प्रभावकारिता के हित में यह अनिवार्य है कि लोक–नौकरशाहियों को सीमित रखने के लिये उचित उपकरण या नियंत्रण ढूँढे जायें। नियंत्रण दो प्रकार के होते हैं वाह्य तथा भीतरी। प्रोफेसर फाईनर (Prof. Finer) के अनुसार, जवाबदेही को लागू करने का सर्वोत्तम तरीका ऐसे संस्थानों का विकास करना है जो लोक–नौकरशाही के कार्यों की सक्रिय ढंग से निगरानी करें और ऐसे अधिकारियों को दण्ड दें जो कुशासन के अपराधी हों। अपनी एजेन्सी से बाहर के लोगों के बल और निगरानी के कारण प्रशासक उचित व्यवहार करते हैं। उनकी धारणा यह है कि जो लोग सरकार के भीतर काम करते हैं वे उनसे भिन्न नहीं जो शेष समाज में रहते हैं। लाभ की इच्छा जैसे नियंत्रणों के अभाव में नीति–निर्माताओं के लिए आवश्यक है कि वे औपचारिक यंत्रावली के माध्यम से लोक प्रशासकों के निष्पादन की निगरानी करें।

विधानमंडल के प्रति कार्यकारिणी का उत्तरदायित्व, विधानमंडल की निगरानी, न्यायिक पुनर्निरीक्षण, लेखापरीक्षण, मंत्रालयों में वित्तीय परामर्श व्यवस्था आदि वाह्य औपचारिक नियंत्रणों के उदाहरण हैं। भीतरी औपचारिक नियंत्रण संगठनात्मक माध्यमों द्वारा प्राप्त किये जाते हैं जिनके उदाहरण हैं पदसोपान, निरीक्षण, नियंत्रण, नियंत्रण क्षेत्र, आदेश की एकता, परीक्षण आदि। व्यवहार में इनके पूरक व इनको सुदृढ़ता प्रदान करने वाले वाह्य

अनौपचारिक यंत्र भी समाज में होते हैं, जैसे लोक–प्रसारण, राजनीतिक दल. हित समूह, राजनीतिक तथा निर्वाचन प्रक्रिया. निगरानी संगठन आदि।

दूसरी ओर कार्ल फ्रेडरिच (Carl Friedrich) का मत है कि प्रशासकों में यथा–उचित मूल्यों का अंतर्निवेशन नौकरशाही पर मुख्य रोक का कार्य करता है। इस विचारधारा के अनुसार यदि लोक अधिकारियों में दृढ़ लोकतांत्रिक तथा प्रशासनिक मूल्यों का अभाव है तो औपचारिक संस्थात्मक चौक प्रायः असफल रहेंगे। सारांश यह है कि प्रशासकों में भीतरी कम्पास अथवा मूल्यों को होना अनिवार्य है जो उनको ठीक दिशा की ओर संकेत करे।

जवाबदेही संस्कृति से जुड़ी हुई (Accountability culture Oriented)

प्रशासनिक जवाबदेही की धारणा संस्कृति से जुड़ी होती है। प्रशासनिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जनता की आशाओं की प्रकृति तथा मात्रा के साथ–साथ इस धारणा में भी परिवर्तन होता है। बहुत सीमा तक यह किसी राजनीतिक व्यवस्था का सांस्कृतिक वातावरण ही होता है जो उसके संदर्भ में प्रशासनिक जवाबदेही के अर्थ और जवाबदेही को परिभाषित करती है। सार्वजनिक नैतिकता तथा प्राशसनिक शिष्टाचार के प्रति समाज की वचनबद्धता एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न होती है। एक समाज में नियमों का उल्लंघन या रिश्वत स्वीकार करना अपराध समझे जाते हैं, परन्तु किसी दूसरे समाज में इसी कार्य को लोक–अधिकारियों से काम लेने के लिए एक स्वीकृत व्यवहार मान लिया जाता है। यह सांस्कृतिक परम्परा और लोक–अधिकारियों तथा सामान्य जनता के बीच पारस्परिक आकांक्षायें ही होती हैं, जो प्रशासनिक जवाब देही की सीमाओं को निश्चित करने की जिम्मेदार होती है। ब्रिटेन, फ्रांस तथा जर्मनी में प्रशासनिक वर्ग को जो सम्मान तथा उच्च स्थान प्राप्त है वह आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका से भिन्न है, जहाँ इतना ऊँचा सम्मान व स्थान नहीं है। इस भेद का कारण उनके भिन्न–भिन्न इतिहास और संस्कृतियाँ हैं। इसी प्रकार जिन समाजों की ठोस या जड़ संरचना होती है, जो परिवार या कुटुम्ब की सदस्यता पर आधारित होते हैं, उनमें यदि कोई लोक–अधिकारी परिवार या रक्त सम्बन्धों की निकटता की अवहेलना करते हुए न्याय तथा औचित्य जैसे मूल्यों का समर्थन करने का प्रयास करेगा, तो उसे लोग बेमेल व्यक्ति समझेगें। किस सीमा तक और किस ढंग से प्रशासनिक जवाबदेही को प्राप्त किया जाऐगा, यह एक वैधानिक–संस्थात्मक प्रबन्धों तथा राजनीतिक संस्कृति का मुद्दा है।

जवाबदेही की सीमायें (Limitations to Accountability)

जवाबदेही की प्रक्रिया का कार्यान्वयन इतना सरल तथा सुगम नहीं है इस पर कई अंकुश हैं:

1. किसी व्यक्ति की व्यवसायिक नैतिकता की उसकी प्रशासनिक नैतिकता से टक्कर हो सकती है। ऐसा विशेषकर वहाँ होता है जहाँ सरकारी संगठनों में विशेषज्ञों या व्यवसायिक व्यक्तियों को नियुक्त किया गया हो। यहाँ प्रशासनिक जवाबदेही पर विशेषज्ञों द्वारा स्वीकार की गई आंतरिक मूल्य संरचना का अंकुश होता है। उदाहरणतया, सरकारी हस्पतालों में नियुक्त किये गये डाक्टरों की प्राथमिक भक्ति चिकित्सा व्यवसाय के नियमों के प्रति होती है। उनके द्वारा ऐसे नियमों का विरोध उचित होगा जो उनके रोगियों के साथ व्यवसायिक तथा नैतिक सम्बन्धों से टक्कर खाते हैं।
2. उन सरकारी उपक्रमों के प्रबन्धकों जो उत्पादन या आर्थिक या वाणिज्य कार्यों में लगे हैं, कि जवाबदेही उन प्रशासकों की जवाबदेही से भिन्न होगी जो एक प्रारूपी सरकारी विभाग में कार्य करते हैं। क्योंकि उन प्रबन्धकों को व्यापार की लाइन पर कार्य करना होता है और निजी क्षेत्र के साथ होड़ करनी पड़ती है।

3. कभी–कभी मजदूर संगठनों की कार्यवाही विभागीय नियमोंय अर्धनियमों या बजट सम्बन्धी नियमों के प्रति जवाबदेही को सीमित करते हैं।

4. चूंकि जबाबदेही संस्कृति से जुड़ी होती है (जैसा ऊपर कहा गया है) यह एक राजनीतिक व्यवस्था के सांस्कृतिक वातावरण के भीतर कार्य करती है। अतः बहुत हद तक प्रशासनिक जवाबदेही की प्रकृति तथा व्याख्या इसी द्वारा निश्चित की जाती है।

5. प्रशासनिक जबावदेही किसी देश की राजनीतिक संरचना से प्रभावित होती है। उदाहरणतया एक संघीय व्यवस्था में प्रशासनिक जवाबदेही की प्रकृति तथा सीमा उस से भिन्न होंगे जो एकात्मक सरकार व्यवस्था में होते हैं। भारत जैसे देश में यह समस्या और भी जटिल हो जाती है क्योंकि यहाँ अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों की नियुक्ति तथा प्रचालन केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता है परन्तु इनको राज्य सरकारों, स्वायत्त संगठनों, सरकारी निगमों आदि के अधीन कार्य करना पड़ता है। वे इन संगठनों के प्रति पूरी तरह जवाबदेह नहीं हो सकते क्योंकि वे केन्द्रीय सरकार की अनुशासन शक्ति के अधीन रहते हैं।

6. प्रशासनिक जवाबदेही उन स्थितियों तक सीमित रहती है जिनको ''प्रशासनहीनता (Non administration) कहा जा सकता है। वास्तव में वहाँ प्रशासनिक जवाबदेही लागू करना बड़ा कठिन हो जाता है जहाँ प्रशासन की गतिविधि नाममात्र भी नहीं है। ऐसी प्रशासनिक व्यवस्थाओं में जहाँ औपचारिक प्रशासनिक संस्थानों तथा कार्यप्रणालियों की अवहेलना करके निर्णय किये जाते हैं, वहाँ ठीक प्रशासनिक जवाबदेही की आशा करना लगभग असम्भव है। विश्व में ऐसी भी प्रशासनिक व्यवस्थायें हैं जहाँ कार्य करने के लिये सकारात्मक प्रोत्साहन नहीं है, और कार्य ना करने के नकारात्मक प्रोत्साहन बहुत होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में प्रशासनिक जवाबदेही प्राप्त करना कठिन होता है।''

जवाबदेही के रूप (Forms of Accountability)

जवाबदेही के कई स्वरूप हैं परन्तु वे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। जवाबदेही औपचारिक भी हो सकती है अर्थात् संस्थात्मक या अनौपचारिक भी हो सकती है अर्थात् लोकतांत्रिक और नैतिक। जवाबदेही के और भी स्वरूप हो सकते हैं जैसे– राजनीतिक जवाबदेही, प्रशासनिक जवाबदेही, विधानमंडलीय जवाबदेही, न्यायिक जवाबदेही आदि।

जवाबदेही निश्चित करने की रीतियाँ

(Ways to ensure Accountability)

1. प्रतिनिधि नौकरशाही (Representative Bureaucracy)

प्रशासनिक जवाबदेही केवल तभी आश्वस्त की जा सकती है यदि नौकरशाही को समाज के सभी महत्वपूर्ण समूहों का प्रतिनिधि बना दिया जाये।

2. लोक भागीदारी (Public Participation)

प्रशासनिक प्रक्रिया में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी प्रशासनिक जवाबदेही को लागू करने के प्रयत्नों में से एक है। जनता की भागीदारी को अमुक से प्राप्त किया जा सकता है :

(क) पूरी नियोजन प्रक्रिया में परामर्श क्रिया

(ख) निर्णय करने वाले मंडलों (Boards) पर जनता का प्रतिनिधित्व तथा
(ग) धन तथा व्यय पर सामुदायिक नियंत्रण।

3. सकारात्मक सार (Positive Content)

सामान्य दिखने वाला प्रशासनिक दृश्य जैसे निरुत्साही निष्पादन, सुरक्षित रह कर कार्य करने का ढंग, संगठन को नेतृत्व तथा प्रेरणा प्रदान न करना आदि को दुरुत्साहित किया जाना चाहिए।

4. प्रशासनिक सुधार (Administrative Reforms)

विकेन्द्रीकरण, हस्तांतरण (delegation), अंतरण (devolution) तथा बहानता (deconcentration) जवाबदेही के लिए महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार के सुधार की आवश्यकता कार्मिक प्रशासन, विशेषतया प्रशिक्षण, स्थापन (placement), निष्पादन मूल्यांकन, पदोन्नति आदि में भी है।

5. नवीनीकारक कार्यप्रणालियाँ (Innovative Practices)

नवीनीकरण कार्यप्रणालियाँ जैसे सूर्यास्त विधान (sunset legislation), जीरो–बेस बजेटिंग (ZBB), सामाजिक लेखापरीक्षण (social audit), सूचना की स्वतंत्रता नियम, सूर्योदय संविधान (sunrise legislation) आदि अपनाये जाने चाहिये ताकि जवाबदेही को बढ़ाया जा सके।

महत्वपूर्ण प्रश्नः

1. लोक–प्रशासन में जवाबदेहीता का क्या महत्व है?
2. जवाबदेही की सीमायें तथा इसे प्राप्त करने की रीतियां बताओ।

अध्याय - 9

प्रशासन पर विधायी एवं न्यायिक नियन्त्रण

Control over Administration : Legislative and Judicial

प्रत्येक देश में सरकार के तीन अंग होते हैं– विधानपालिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका। विधानपालिका का काम देश में शान्ति व्यवस्था बनाए रखना तथा प्रशासन के सुचारू रूप से संचालन के लिए कानून बनाना होता है। आज के प्रजातन्त्रात्मक युग में विधानपालिका जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था है। संसदात्मक प्रणाली में कार्य पालिका संसद के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहती है। संगठन तथा कार्यों की दष्टि से कार्य पालिका को संसद के निरन्तर निर्देशन एवं निरीक्षण के अधीन रहना होता है। अध्यक्षात्मक प्रणाली में कार्यपालिका संगठन तथा कार्यों की दृष्टि से विधानपालिका के साथ उसने घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होते और दोनों पक्षों के बीच शक्ति–पृथक्करण (Separation of Powers) रहता है, फिर भी विरोध तथा सन्तुलन (Checks and Balances) द्वारा वहां भी इन दोनों अंगों को परस्पर सहयोगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाता है। तीसरा अग न्यायपालिका है, जिसका कार्य विधानपालिका द्वारा निर्मित तथा कार्यपालिका द्वारा क्रियान्वित कानूनों की उपयुक्तता देखना होता है, सरकार के अन्य दोनों अंगों की, क्रियाओं को संविधान के अनुरूप बनाना होता है। देश में संविधान की रक्षा करना, नागरिकों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं को संरक्षण प्रदान करना, विधानपालिका के कानूनों तथा कार्यपालिका के निर्णयों पर न्यायिक पुनरीक्षा आदि इसके महत्वपूर्ण कार्य हैं। आधुनिक युग में राज्यों के कार्यों में वृद्धि होने के कारण तथा प्रशासनिक अधिकारियों की शक्तियों में बढ़ोतरी के कारण इन शक्तियों के दुरूपयोग की सम्भावना रहती है और इसी दुरूपयोग से बचने के लिए लोक प्रशासन पर अनेक रूप से नियन्त्रण किया जाता है। यह ठीक ही कहा गया है कि सत्ता व्यक्ति को भ्रष्ट तथा असीमित सत्ता व्यक्ति को पूर्णतया भ्रष्ट बना देती है। इसलिए प्रशासनिक अधिकारियों को अपने कार्यों तथा क्रिया कलापों के लिए अनेक प्रकार से जवाबदेह होना पड़ता है। इसलिए प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण तथा कार्यपालिका के नियन्त्रण का उद्देश्य मुख्यतः प्रशासनिक नीतियों, कानूनों तथा व्यय करने पर नियन्त्रण होता है जबकि न्यायपालिका के नियन्त्रण का लक्ष्य प्रशासकीय पदाधिकारियों द्वारा किये गए कार्यों की वैधता को निश्चित करना तथा सत्ता के असंवैधानिक प्रयोग से जनता के अधिकारों की रक्षा करना होता है। लार्ड ब्राईस (Lord Bryce) ने ठीक ही कहा है कि उत्तम सरकार का मापदण्ड उनकी कुशल व स्वतन्त्र न्यायपालिका होती है।

प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण

(Parliamentary Control over Administration)

भारतीय संसद प्रशासन पर प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित करने के लिए अनेक साधन प्रयुक्त करती है। ये साधन कार्य–प्रणाली के आवश्यक अंग हैं। वह अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए जो कार्य सम्पन्न करती है उन्ही के द्वारा प्रसंगवश लोक–प्रशासन पर भी नियन्त्रण स्थापित कर लेती है। संसदीय नियन्त्रण के मुख्य साधन निम्नलिखित है।

1. **नीति का निर्धारण**–संसद लोक–प्रशासन के संगठन, कार्यों तथा प्रक्रियाओं को कानून द्वारा निश्चित करती है। वह राष्ट्रीय नीतियों को अन्तिम स्वीकृति प्रदान करती है। इसी स्वीकृति के बिना प्रशासन किसी प्रकार की नीति नहीं अपना सकता। यद्यपि संसद कार्य की अधिकता तथा तकनीकी कुशलता व समय के अभाव के कारण नीतियों को सामान्य रूप से पारित करती है तथा इसे विस्तृत रूप देने का उत्तरदायित्व

कार्यपालिका को सौंप देती है। इन नीतियों का विस्तार प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर होता है तथा प्रत्येक पदाधिकारी परिस्थितियों के अनुसार इनको लागू करता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि संसद या विधानपालिका, कार्यपालिका या प्रशासन को नीति सम्बन्धी कार्यों में खुली छुट दे देती है। प्रशासन किसी भी नीति को तब तक लागू नहीं कर सकता जब तक कि संसद ने उसे स्वीकृति न दी हो तथा उन नीतियों का संसदीय समितियों द्वारा निरीक्षण न किया गया हो।

2. **बजट पर चर्चा**–बजट संसद द्वारा पारित किया जाता है। उसकी अनुमति के बिना लोक प्रशासक एक नया पैसा खर्च भी नहीं कर सकते। बजट पर चर्चा करते समय संसद के सदस्य प्रशासन की सम्पूर्ण गतिविधियों का मूल्यांकन कर जाते हैं। लोक–सेवकों एवं उच्च पदाधिकारियों के कार्यों का पुनरावलोकन किया जाता है। भष्ट अधिकारियों की अनियमितताओं का पर्दाफाश भी किया जाता है।

अनुदान की माँग पर मतदान करते समय संसद सदस्य लोक–सेवकों के व्यवहार की विशद् चर्चा करते हैं। कटौती प्रस्ताव के रूप में लोक–सेवकों के व्यवहार पर पूरी आलोचना की जाती है। वित्त विधेयक पर विचार के समय संसद सदस्य लोक प्रशासन की अनियमितता, भ्रष्टाचार एवं अन्य दोषों का उल्लेख करते हैं।

3. **राष्ट्रपति का अभिभाषण**– संसदीय अधिवेशन के प्रारम्भ में भारत का राष्ट्रपति जब भाषण देता है तो वह लोक–सेवक के कार्यों एवं उपलब्धियों की भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से चर्चा करता है। जब संसद सदस्य इस भाषण पर विचार–विमर्श करते हैं तो लोक–सेवकों के कार्यों को भी आलोचना का विषय बनाया जाता है। संसदीय प्रांगण से समाचार–पत्र एवं संचार के दूसरे साधनों द्वारा उनकी गतिविधियाँ जन–सामान्य तक पहुँच जाती हैं। इस प्रकार संसदीय वाद–विवाद से प्रशासन के प्रति जनमत निर्माण करने में सहायता मिलती है।

4 **प्रश्न–काल**–संसद की कार्यवाही का पहला घण्टा प्रश्न पूछने के लिए नियत है। इस काल में संसद सदस्य मन्त्रियों से उनकी प्रशासनिक नीतियों एवं कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रश्न पूछते हैं। इसके फलस्वरूप प्रशासन पर संसदीय नियन्त्रण दृढ़ होता है। पूछे जाने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध में प्रत्येक मन्त्री सजग रहता है। मन्त्री को यह अधिकार है कि वह किसी प्रश्न का जवाब न दे अथवा टाल दे किन्तु ऐसा करना उनकी लोकप्रियता को कम करता है और जनमत को उसके विरुद्ध कर देगा। प्रत्येक प्रश्न का सन्तोषजनक जवाब प्राप्त करने की दृष्टि से मन्त्री लोक–सेवकों के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। वह अपने विभागीय क्रिया–कलापों में व्यक्तिगत रूचि लेता है। किसी अधिकारी द्वारा की गई गलतियों के प्रति संसद में जवाबदेह होने के कारण मन्त्री स्वयं यह प्रयास करता है कि ऐसे अवसर पैदा न हों। स्वयं अधिकारी भी संसदीय प्रश्नों से अपने बाजुओं को बचाकर कार्य करते हैं।

5. **बहस एवं विचार–विमर्श**–प्रश्न–काल के अतिरिक्त समय में भी संसद सदस्य लोक–सेवकों के कार्यों पर टीका–टिप्पणियाँ करते रहते हैं। मुख्यत. तीन अवसरों पर ऐसा होता है

(क) नया विधेयक प्रस्तावित होने पर–जब नया विधेयक संसद में प्रस्तावित किया जाता है तो कई सदस्य प्रसंगवश लोक–सेवकों के कार्यों की पुनरीक्षा कर देते हैं। ऐसे वाद–विवाद के समय प्रशासनिक संगठन की सफलता, उपयुक्तता एवं कार्यकुशलता सामने आती है।

(ख) आधे घण्टे के विचार–विमर्श के समय–ऐसा प्रावधान है कि यदि प्रश्न–काल में कोई सदस्य सरकार के उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हो पाया है अथवा उसके सम्बन्ध में उसे कुछ सन्देह है तो उसके निवारणार्थ वह प्रश्न–काल के तुरन्त बाद ही अध्यक्ष से आधे घण्टे के विचार–विमर्श की अनुमति माँग सकता है।

(ग) अल्पकालीन विचार–विमर्श के समय–अत्यावश्यक लोकहित के विषय पर विचार करते हुए संसद सदस्यों द्वारा प्रशासनिक अधिकारियों के कार्यों को वाद–विवाद का विषय बनाया जा सकता है। यह वाद–विवाद अध्यक्ष की अनुमति से अधिक से अधिक ढाई घण्टे का हो सकता है।

उक्त अवसरों पर संसद में आलोचना के लिए प्रशासन उत्तरदायी रहता है।

6. **स्थगन प्रस्ताव**–संसद सदस्य किसी विभाग के अधिकारियों के अत्याचार एवं अन्याय के विरूद्ध स्थगन प्रस्ताव रख सकते हैं। प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर सम्बन्धित अधिकारियों की सदन में कटु आलोचना की जाती है। प्रस्ताव के नामंजूर होने पर भी जनता में इन अधिकारियों की बदनामी अवश्य होती है

7. **अविश्वास प्रस्ताव**– इसे संसद के हाथों में ब्रह्मास्त्र माना जाता है। यदि नागरिक सेवकों के कार्यों के प्रति व्याप्त असन्तोष गहरा तथा व्यापक हो तो कार्यकारिणी को हटाने से सम्बन्धित यह प्रस्ताव आ सकता है। प्रस्ताव पर बहस के दौरान लोक–सेवकों की कटु–आलोचना की जाती है। प्रशासनिक कमजोरियों, असफलताओं एवं ज्यादतियों पर प्रकाश डाला जाता है।

8. **संसदीय समितियाँ**–संसद की समितियाँ लोक–प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का पर्याप्त सबल साधन है। कई संसदीय समितियों का मूल उद्देश्य विस्तृत अध्ययन के बाद यह जानकारी प्राप्त करना है कि कहाँ अनियमितता बरती जा रही है, कौन अधिकारी अपनी शक्तियों का दुरूपयोग कर रहा है, किसके द्वारा जनहित विरोधी कार्य किए जा रहे हैं तथा कौन जनता के धन का अपव्यय कर रहा है। संसद की इन नियन्त्रणकारी समितियों में तीन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये हैं–आश्वासन समिति, जनलेखा समिति और प्राक्कलन समिति। मि० एम० एन० कौल के मतानुसार, "आश्वासन समिति की स्थापना के बाद न केवल प्रशासनिक कार्य–कशलता बढ़ी है वरन इससे अनेक दोषों का भी निराकरण हआ है। अब मन्त्रीगण आश्वासन देते समय पर्याप्त सजग रहते हैं और प्रशासन भी दिए गए आश्वासनों पर तुरन्त कार्यवाही करता है। सरकार के विभिन्न मन्त्री अब संसद के प्रति अपने दायित्वों के बारे में सजग हो गए हैं।"

जनलेखा एवं प्राक्कलन समितियाँ भारतीय संसद की महत्वपूर्ण आर्थिक समितियाँ हैं। ये दोनों संसद की ओर से प्रकाशन पर आर्थिक नियन्त्रण रखती हैं। जनलेखा समिति सरकारी लेखाओं का परीक्षण करती हैं। किसी सरकारी विभाग का अध्ययन करते समय यह इस बात की जाँच करती है कि विभाग द्वारा किया गया व्यय संसद द्वारा अनुमोदित था अथवा नहीं था। यह व्यय में अनियमितता अपव्यय अनाधिकारपर्ण व्यय और गबन के मामलों को सामने लाती है तथा उनकी आलोचना करती है। प्राक्कलन समिति सरकारी विभागों द्वारा प्रस्तुत अनुमानों का अध्ययन करती है तथा उनमें अन्तर्निहित नीति को ध्यान में रखते हुए मितव्ययता, कार्य–कुशलता, संगठन में सार्थकता, प्रशासनिक सबलता आदि के सम्बन्ध में सिफारिशें प्रस्तुत करती है। इन दोनों समितियों को जनता के धन का प्रहरी कहा जाता है। ये प्रशासनिक विभागों पर वास्तविक एवं प्रभावशाली नियन्त्रण रखती हैं।

9. **लेखा परीक्षण**–भारत का नियन्त्रक एवं महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of Indi) विभिन्न सरकारी विभागों के लेखों की जाँच करता है तथा अनियमितताओं का पता लगाता है। लोक–सेवक हमेशा लेखा परीक्षा के भय से आतंकित रहते हैं तथा जनता के धन का दुरूपयोग नहीं कर पाते हैं।

संसदीय नियन्त्रण की समस्याएँ एवं सीमाएँ

(Problems and Limitations of Parliamentary Control)

प्रो० एपलबी (Prof. Appleby) के अनुसार संसद का हस्तक्षेप प्रशासनिक कार्यों में इतना बढ़ जाता है कि वह नियन्त्रण की परिधियों में सीमित न रहकर हस्तक्षेप बन जाता है और इस प्रकार लोक–सेवकों के कार्य प्रतिबन्धित हो जाते हैं। भारत में सामन्तवादी परम्पराएँ, जनता और अधिकारियों के मध्य दूरी तथा शिक्षा का निग्न स्तर होने के कारण संसदीय नियन्त्रण वांछनीय लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाता है। इसकी प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं।

1. **गैर–विशेषज्ञता**–संसद के सदस्य गैर–विशेषज्ञ होने के कारण लोक–सेवकों की रचनात्मक आलोचना नहीं कर पाते हैं। लोक–सेवक भी स्वेच्छाचारी शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं जो साँसदों की पकड़ में नहीं आ पातीं। परिणामस्वरूप संसदीय नियन्त्रण का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। अधिकांश साँसद अशिक्षित, गैर––अनुभवी और मन्दबुद्धि के होते हैं। फलतः संसदीय नियन्त्रण की उपयोगिता कम हो जाती है। संसदीय बहस के समय ये सजग नहीं रहते और बौद्धिक तर्क–वितर्क में उलझे बिना ही दलीय साथियों को देखकर हाथ खड़ा कर देते हैं। इस प्रकार संसदीय नियन्त्रण प्रभावशाली एवं सार्थक नहीं हो पाता है।
2. **आलोचना के लिए आलोचना**–साँसदों द्वारा प्रशासन की आलोचना उसमें सुधार करने या कार्य–कशलता लाने के लक्ष्य से नहीं की जाती वरन् दर्शक दीर्घा के लोगों को प्रभावित करने, समाचार–पत्रों में फोटो सहित नाम प्रकाशित करने तथा जनता में लोकप्रियता पाने के लिए की जाती है। उनकी आलोचना के पीछे प्रायः पर्वाग्रह और व्यक्तिगत मनमटाव छिपे रहते हैं।
3. **उत्तरदायित्व का प्रश्न**–संसदीय नियन्त्रण के कारण मन्त्रिगण अपने कन्धे से लोक–सेवाओं के कार्यों का दायित्व उतार देते हैं। जब किसी प्रशासनिक अनियमितता का दोष मन्त्री पर डाला जाता है तो मन्त्री उसे लोक–सेवकों की गलती बताकर स्वयं बच निकलता है। साँसदों द्वारा की गई नीति की आलोचना के उत्तर में मन्त्री यह कहते हैं कि नीति तो ठीक थी किन्तु इसे सम्बन्धित अधिकारियों द्वारा सही रूप में क्रियान्वित नहीं किया गया। इस स्थिति में लोक–प्रशासन अकार्य–कुशल तथा भ्रष्ट बन जाता है।
4. **एकपक्षीय आलोचना**–संसद में लोक–सेवकों की आलोचना एकपक्षीय होती है क्योंकि वहाँ उन्हें अपनी सफाई में कुछ कहने का अवसर नहीं दिया जाता है। संसदीय आलोचना के भय से लोक–सेवक प्रभावशाली साँसदों को खुश रखने की नीति अपनाते हुए जनहित और ईमानदारी को ताक पर उठा कर रख देते हैं। उनकी राजनीतिक निष्पक्षता समाप्त हो जाती है। साँसदों का आश्रय एवं सदभावना प्राप्त करने के लिए वे कोई भी अवैध या अनुचित कार्य करने को तैयार हो जाते हैं।
5. **दलगत आलोचना**––मन्त्रियों के अधीन होने के कारण लोक–सेवाओं को बहुमत दल का अंग मान लिया जाता है और जिस प्रकार सत्ताधारी दल की आलोचना करना विरोधी दलों का धर्म होता है उसी प्रकार लोक–सेवाओं के प्रत्येक काय की आलोचना करना भी उनका कर्त्तव्य मान लिया जाता है। इस प्रकार आलोचक निष्पक्ष नहीं होते हैं। वे दलीय पक्षपात के कारण लोक–सेवकों के चरित्र और व्यवहार पर लांछन लगाते हैं।
6. **संवैधानिक स्थिति**––भारतीय संविधान के अनुसार विभागीय कार्यों का उत्तरदायित्व मन्त्री पर होता है। विभाग में होने वाली प्रत्येक गड़बड़ी, अनियमितता, भ्रष्टाचार एवं ज्यादती के लिए मंत्री को ही जवाबदेह ठहराया जाना चाहिए लोक–सेवकों को नहीं। संसद बहस के दौरान मन्त्री के विरूद्ध ही तर्क–वितर्क प्रस्तुत करे वह किसी लोक सेवक पर प्रत्यक्ष रूप से लांछन नहीं लगाए। लोक–सेवक यह जान जाता है कि उसने यदि ईमानदारी से कार्य किया तो दण्ड मिलेगा, यदि निष्पक्षता बरती तो बदनाम होना पड़ेगा, यदि सज्जनतापूर्ण व्यवहार किया तो कमजोर माना जाएगा और यदि राजनीतिक प्रभाव की अवहेलना की तो पद

से हाथ धोना पड़ेगा। फलतः वह राजनीतिक हस्तक्षेप को सहर्ष स्वीकार करके स्वार्थ सिद्धि का प्रयास करता है।

7. **कार्य–कुशलता की क्षति**–संसदीय आलोचना के भय से लोक–सेवक व्यक्तिगत निर्णय नहीं लेना चाहते है। वे प्रत्येक नीति एवं महत्त्वपूर्ण निर्णय के लिए संसद पर निर्भर रहते हैं। फलतः निर्णय उस समय लिए जाते हैं जबकि इनका महत्त्व एवं उपयोगिता भी समाप्त हो जाती है। इससे प्रशासनिक कार्यकुशलता घटती है और प्रशासन कल्याणकारी नहीं रह पाता है।
8. **लोकसेवाओं में भ्रष्टाचार**–निर्णयात्मक शक्ति के अभाव में लोक–सेवक की प्रशासनिक कार्यों में व्यक्तिगत रूचि घट जाती है। उनमें असन्तोष और निराशा बढ़ती है तथा वांछनीय उत्साह और प्रेरणा लुप्त हो जाती है। अच्छे कार्यों को मान्यता न मिलने के कारण वह हतोत्साहित हो जाता है। गैर–विशेषज्ञों द्वारा बेकार के तर्क तथा मीनमेख सुनकर वह काम न करने का निर्णय लेता है और पथभ्रष्ट होकर अपने बचाव के तरीके अपनाने लगता है। उसका चरित्र निरन्तर गिरता जाता है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि संसदीय नियन्त्रण की अनेक सीमाएँ हैं जिनके परिणामस्वरूप प्रशासन पर यह अनेक अवांछनीय प्रभाव डालता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि संसदीय नियन्त्रण को हटाया जाए। इसके दोषों को दूर किया जाना चाहिए। लोक–सेवकों का मनोबल ऊँचा उठाया जाए तथा ऐसी प्रवृत्ति पैदा की जाए जिससे कि वे संसदीय आलोचनाओं की विशेष परवाह न करें। अपने देश में ब्रिटेन की भाँति कुछ ऐसी परम्पराएँ डाली जाएँ जिनके तहत मन्त्रीगण एक ढाल का कार्य करें तथा अपने विभाग के अधिकारियों को संसद की आलोचना के प्रहारों से बचाएँ। मन्त्रियों को हमेशा यह प्रयास करना चाहिए कि लोक प्रशासकों के अनाम व्यवहार, निष्पक्ष आचरण, स्वतन्त्र तथा ईमानदारी पूर्ण निर्णय की रक्षा की जा सके। ओम्बुड्समैन तथा लोकपाल आदि संस्थाओं की स्थापना इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण
(Judicial Control over Indian Administration)

संयुक्त राज्य की भाँति भारत में न्यायिक पुनरीक्षा (Judicial Review) की व्यवस्था है। यहाँ न्यायपालिका स्वतन्त्र है, सर्वोच्च है और संविधान की रक्षक है। यहाँ ग्रेट ब्रिटेन की भाँति विधि का शासन अपनाया गया है। तद्नुसार सरकारी अधिकारी और सामान्य नागरिक एक जैसे कानून और एक ही प्रकार के न्यायालयों के विषय हैं। लोक प्रशासन पर न्यायपालिका के नियन्त्रण की अपनी कुछ सीमाएँ और मर्यादाएँ होती हैं। न्यायपालिका कभी स्वयं पहल करके प्रशासनिक संगठन के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती है। वह केवल तभी हस्तक्षेप करती है जब उसे प्रभावित व्यक्ति द्वारा ऐसा करने के लिए आमन्त्रित किया जाए। न्यायपालिका की कार्यवाही घटना घटित हो जाने के बाद प्रारम्भ होती है। इस प्रकार यह भावी अनियमितताओं को रोकने का प्रयास करती है।

न्यायिक नियन्त्रण के अवसर
(Occasion of Judicial Control)

न्यायपालिका निम्नलिखित पाँच परिस्थितियों में भारतीय प्रशासन पर अपना नियन्त्रण लागू करती है।

1. **अधिकारी द्वारा स्वविवेक का दुरूपयोग**–जब लोक–सेवक अपने पद का प्रयोग दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाने के लिए करते हैं तो ऐसे मामलों को न्यायिक जाँच के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। न्यायालय यह पता लगाता है कि विचारणीय मामले में लोक–सेवक का इरादा क्या था और वह कितना दोषी है?
2. **अधिकार–क्षेत्र का अभाव**–जब कोई लोक–सेवक अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर कार्य करता है तो प्रभावित व्यक्ति उसके विरुद्ध न्यायालय में अपील कर सकता है। न्यायालय तथ्यों की सही व्याख्या करके यह पता

लगाएगा कि क्या सम्बन्धित अधिकारी ने अपने अधिकार–क्षेत्र का अतिक्रमण किया है। दोषी अधिकारी के व्यवहार को वह गैर–कानूनी ठहरा सकता है।

3. **वैधानिक त्रुटि**–लोक–सेवकों को कानून क्रियान्वित करने का दायित्व सौंपा जाता है। यदि वे इस शक्ति का दुरूपयोग करते हुए नागरिकों पर अत्यधिक दायित्व थोप दें तो न्यायपालिका हस्तक्षेप कर सकती है। इस प्रकार की कानूनी त्रुटियाँ प्रायः ऐसे लोगों से होती हैं जो या तो महत्त्वाकाँक्षी हैं अथवा कार्यों में अत्यधिक रूचि लेते हैं।

4. **तथ्य–प्राप्ति में त्रुटि**–जिन प्रशासनिक आदेशों में विवादपूर्ण तथ्य होते हैं वे प्रायः न्यायालय के सामने आते हैं। न्यायपालिका उनकी समीक्षा करके उन पर निर्णय देती है। 5. प्रक्रिया की त्रुटि–न्यायालय लोक–सेवकों को यह निर्देश दे सकता है कि वे विधि–सग्मत प्रक्रिया का अनुगमन करें। कार्य की प्रक्रिया प्रत्येक विभाग या कार्यालय विशेष की होती है। यदि कार्यालय के अभिलेख यह प्रदर्शित करें कि प्रक्रिया में कहीं गलती की गई है या कुछ छोड़ा गया है तो न्यायपालिका उस प्रशासनिक कार्य को गैर–कानूनी घोषित कर सकती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रशासनिक संगठन में न्यायालय के हस्तक्षेप के कई अवसर आते हैं। प्रभावित गैर–सरकारी लोगों द्वारा अधिकारियों को न्यायपालिका के सामने लाया जा सकता है अथवा स्वयं अधिकारी भी कानून के पालन को बाध्यकारी बनाने के लिए न्यायिक लेख जारी करने की माँग कर सकते हैं। डॉ० एल० डी० हवइट के कथनानुसार, अधिकारी सदैव यह जानते हैं कि उनके कार्यों को न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है और यदि उन्होंने गलती की है तो कुछ परिस्थितियों में उन्हें हर्जाना भी देना होगा।

न्यायिक नियन्त्रण के रूप एवं विधियाँ

(Forns and Methods of Judicial Control)

भारतीय लोक–प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की मुख्य विधियाँ निम्नलिखित है

1. **कार्यपालिका कृत व्यवस्थापन को असंवैधानिक घोषित करना**–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 123 तथा 213 क्रमशः राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को व्यवस्थापिका के अवसान काल में अध्यादेश जारी करने की शक्तियाँ देती हैं। इसके अतिरिक्त हस्तान्तरित व्यवस्थापन के अन्तर्गत भी कार्यपालिका कानून बनाती है तथा प्रशासन इनको क्रियान्वित करता है। न्यायपालिका ऐसे व्यवस्थापन को जो संविधान के प्रतिकूल है, असंवैधानिक घोषित कर सकती है।

2. **हस्तान्तरित व्यवस्थापन पर नियन्त्रण**–स्वतन्त्रता के बाद भारत में हस्तान्तरित व्यवस्थापन का पर्याप्त विकास हुआ है। इसके सम्बन्ध में न्यायालय को यह तय करने की शक्ति है कि कार्यपालिका को हस्तान्तरित व्यवस्था की शक्ति थी अथवा नहीं थी और इसके अन्तर्गत किया गया व्यवस्थापन संवैधानिक है अथवा नहीं है। यह हस्तान्तरण कभी अनियन्त्रित और आरक्षित नहीं होता है। कानून द्वारा इस पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह व्यवस्थापिका को कार्यपालिका के लिए स्वेच्छाचारी शक्ति न सौंपने दे। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने हस्तान्तरण के अधीन बनाए नियमों की जाँच के लिए कुछ मापदण्ड निर्धारित किए हैं। यदि कोई नियम इनके अनुरूप है तो ठीक है अन्यथा ठीक नहीं है।

3. **प्रशासनिक अधिकारियों के निर्णयों के विरूद्ध अपीलें**–प्रशासनिक अधिकारियों के निर्णयों के विरूद्ध न्यायालय में अपील की जाती है। अपील का यह अधिकार प्रायः कानूनी व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्नों पर प्रदान किया जाता है। न्यायालय अपील पर विचार करते समय प्रशासनिक अधिकारी के निर्णय का पूर्णरूपेण विवेचन करता है। उसका निष्कर्ष इस निर्णय के विरुद्ध भी जा सकता है।

4. **करारोपण**–प्रशासनिक व्यय का निर्वाह करने के लिए कार्यपालिका द्वारा कानून सम्मत कर एकत्रित किए जाते हैं। उनका यह कार्य न्यायिक नियन्त्रण का विषय है। न्यायालय यह देखता है कि ये कर व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून के अनुसार ही लगाए जाएँ और सम्बन्धित कानून भी संवैधानिक होना चाहिए।

5. **सरकार विरोधी अभियोग**–नागरिकों के अधिकार तथा स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए राज्य के विरूद्ध न्यायालय में कार्यवाही की जा सकती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 300 में यह कहा गया है कि भारत सरकार या किसी भी राज्य सरकार द्वारा या उसके विरूद्ध मुकदमा चलाया जा सकता है। यह मुकदमा संसद अथवा राज्य की व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित अधिनियम के किसी प्रावधान के अन्तर्गत होना चाहिए।

6. **सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध अभियोग**–सभी सरकारी अधिकारी अपने कार्यों के लिए न्यायपालिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रशासन से किसी प्रकार की शिकायत वाले व्यक्ति के लिए न्यायालय का द्वार खुला रहता है। भारतीय संविधान ने केवल राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और राज्यपालों को न्यायिक कार्यवाही से मुक्ति प्रदान की है। यह उनके पद की गरिमा, गौरव और सम्मान की दृष्टि से है। शेष कार्यपालिका को ऐसी उन्मुक्ति प्राप्त नहीं होती अधिकारी के विरूद्ध की जाने वाली कार्यवाही के स्तर के आधार पर अभियोग तय होता है। इस दृष्टि से न्यायपालिका के अधिकारियों को अन्य नागरिक सेवकों से भिन्न रखा जाता है। न्याय पदाधिकारी रक्षा अधिनि न्यायाधीशों को उन्मुक्तियाँ प्रदान की गई हैं। अन्य अधिकारियों के बारे में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 299 (2) में कहा गया है कि कोई अधिकारी ऐसे समझौते अथवा आश्वासन के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नहीं है जो संविधान अथवा अधिनियम के लिए निर्मित या सम्पन्न किया गया हो।" लोक–सेवक अपने अवैध तथा असामाजिक कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है। उसे एक साधारण नागरिक की भाँति देश के कानून के अधीन रखा गया है। जब वह अपने पद पर कार्य करते हुए कोई अपराध करता है तो उसके विरूद्ध की गई न्यायिक कार्यवाही में एक विशेष प्रक्रिया अपनाई जाती है।

7. **प्रशासनिक कार्यों और निर्णयों का न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review)**–न्यायालय प्रशासनिक व्यवहार का पुनरावलोकन करने का अधिकार रखता है। न्यायालय की यह शक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका में काफी व्यापक और प्रभावशाली है किन्तु भारत में न्यायिक पुनरावलोकन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए हैं। अनेक विषय ऐसे हैं जिन पर प्रशासनिक पुनरीक्षा विषय पर अधिक गहनता से विचार नहीं किया गया है। साधारणतः न्यायपालिका प्रशासनिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती है। भारतीय संविधान में न्यायिक निर्णय को अन्तिम माना जाता है। न्यायिक पुनरावलोकन नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी है, किन्तु इसमें समस्या यह है कि न्यायालय तकनीकी विषयों पर विचार नहीं कर सकते हैं। एक न्यायाधीश जनोपयोगी सेवाओं की उपलब्धियों का मूल्याँकन तभी कर सकता है जब वह कानूनवेता होने के साथ–साथ एक विशेषज्ञ, लेखा अधिकारी, इन्जीनियर, वित्तीय जानकार आदि भी हो। किसी एक न्यायाधीश में इन सभी विशेषताओं का मिलना असम्भव है।

प्रमुख न्यायिक उपचार

(Important Judicial Remedies)

सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रशासनिक शक्ति का दुरूपयोग करने पर न्यायालय द्वारा की जाने वाली कार्यवाही न्यायिक उपचार कही जाती है। प्रमुख न्यायिक उपचार निम्नलिखित हैं

1. **संविधि के उल्लंघन पर**–जब लोक–सेवक अपनी सॉविधिक (Statutory) शक्तियों का प्रयोग नहीं करते अथवा कर्त्तव्यो का निर्वाह नहीं करते तो न्यायालय द्वारा उन्हें ऐसा करने का आदेश दिया जा सकता है।

प्रो० स्मिथ (Prof. Smith) के कथनानुसार, "यह शक्ति लोक–प्रशासन का अन्तिम हथियार है। यह एक अवरोध के रूप में कार्य करती है।"

2. **सार्वजनिक कार्य सम्पन्न न करने पर** – भारतीय कानून सार्वजनिक कर्त्तव्य सम्पन्न न करने पर दण्ड की व्यवस्था करता है। न्यायालय द्वारा दोषी अधिकारियों के विरूद्ध फौजदारी (Criminal) प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। अधिकारी द्वारा ने पर होने वाली क्षति को वसल करने की कार्यवाही की जा सकती है। प्रभावित व्यक्ति ऐसे अधिकारी के विरूद्ध परमादेश जारी करने की प्रार्थना कर सकता है। अध्यादेश न्यायपालिका की इच्छा पर निर्भर है, इसे कोई व्यक्ति अधिकार के रूप में नहीं मान सकता है।

3. **स्वविवेक की शक्तियों का दुरूपयोग होने पर**–लोक–सेवक यदि अपनी स्वविवेक (Discretionary) की शक्तियों का प्रयोग न करें या अतिक्रमण करें अथवा दुरूपयोग करें तो उनके विरूद्ध न्यायिक कार्यवाही की जा सकती है। न्यायालय इस सम्बन्ध में कोई कदम उठाते समय निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुसार व्यवहार करता ह

(क) सम्बन्धित अधिकारी उसकी स्वविवेकी शक्तियों (Discretionary Powers) का प्रयोग करने के लिए दबाया जा सकता है, किन्तु किसी विशेष रूप में प्रयोग करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। (ख) स्वविवेक की शक्ति का प्रयोग साधारणतः उसी अधिकारी द्वारा किया जाना चाहिए जिसे यह सौंपी गई है। (ग) प्रशासनिक अधिकारी को स्वयं ही कार्य का निर्णय लेना चाहिए उसे अन्य निकाय की आज्ञा के अधीन नहीं रहना चाहिए। (घ) अधिकारी को स्वविवेक की शक्तियों का प्रयोग करते समय उनकी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। (ङ) अधिकारी को असम्बन्धित बातों को छोड़ते हुए तथा सम्बन्धित बातों पर विचार करते हुए सविश्वास के साथ कार्य करना चाहिए।

4. **असाधारण उपचार (Extra Ordinary Remedy)**–प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए न्यायपालिका विभिन्न लेख जारी करती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32(2) के अनुसार उच्चतम न्यायालय नागरिकों के अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवश्यक आदेश, निर्देश तथा लेख जारी कर सकता है। इन उपचारों को असाधारण इसलिए कहा जाता है क्योंकि न्यायालय इन्हें किसी के अधिकार के रूप में नहीं वरन स्वेच्छा से प्रसारित करते हैं। ये प्रायः वहाँ प्रसारित किए जाते हैं जहाँ अन्य साधन अपर्याप्त हों। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय पाँच लेख जारी कर सकता है

(क) बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)–इस लेख द्वारा बन्दी बनाए व्यक्ति को तुरन्त न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करने को कहा जाता है ताकि उसे बन्दी बनाने की वैधानिकता की जाँच की जा सके। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षार्थ यह लेख किले का कार्य करता है। इसके कारण कोई सरकारी विभाग या अधिकारी सामान्य नागरिक के अधिकारों को नहीं छीन सकता है।

(ख) परमादेश (Mandamus)–यह लेख किसी व्यक्ति, निगम अथवा अधीनस्थ न्यायालय को निर्देशित करने के लिए जारी किया जाता है। इसके माध्यम से न्यायालय लोक–सेवकों को कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता है।

(ग) निषेधाज्ञा (Prohibition)–यह लेख उच्च स्तरीय न्यायालय द्वारा अधीनस्थ न्यायालय को जारी किया जाता है। इसका उद्देश्य अधीनस्थ न्यायालय को वह कार्य करने से रोकना है जिसे वह कानूनन रोकने का अधिकारी नहीं है। इस लेख का प्रभाव क्षेत्र न्यायिक अथवा अर्द्धन्यायिक है। प्रशासन पर इस साधन द्वारा बहुत कम नियन्त्रण रखा जाता है। परमादेश में कार्य करने को कहा जाता है जबकि निषेध आज्ञा में कुछ कार्य करने पर रोक लगाई जाती है।

(घ) उत्प्रेषण लेख (Certiorari)–इसका शाब्दिक अर्थ है प्रमाणित होना या निश्चित होना। इस लेख द्वारा अधीनस्थ कार्यालय में विचाराधीन विषय पर सूचना प्राप्त करने की माँग की जाती है। इसका क्षेत्र भी न्याय कार्य है। इसके आधार पर छोटी अदालत का निर्णय रूक जाता है या रद्द हो जाता है।

(ङ) अधिकार–पृच्छा (Quo&warrants)–यह लेख लोक–सेवकों पर न्यायिक नियन्त्रण की प्रत्यक्ष प्रणाली है, इसके द्वारा न्यायालय सम्बन्धित अधिकारी से यह पूछता है कि उसने अमुक कार्य किस आधार पर किया। किसी कार्य की वैधानिकता जाँचने के लिए इस प्रकार का लेख निम्नलिखित परिस्थितियों में जारी किया जा सकता है।

(1) यह लेख केवल सरकारी अधिकारी या संस्था के सम्बन्ध में ही जारी किया जा सकता है। किसी व्यक्तिगत या गैर–सरकारी कार्यालय के विरूद्ध इसे प्रसारित नहीं किया जाता है।

(2) यह केवल सार्वजनिक प्रकृति के कार्यों के सम्बन्ध में जारी किया जाता है।

(3) सम्बन्धित लोक–सेवक स्थायी कर्मचारी होना चाहिए।

(4) जिस व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही की जाए वह नाममात्र का नहीं वरन् वास्तविक कार्यकर्ता होना चाहिए।

न्यायिक नियन्त्रण के उपर्युक्त साधारण और असाधारण उपचार, प्रशासन को उनकी सीमाओं में कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। ये लोक–सेवकों को अधिकार–क्षेत्र का अतिक्रमण करने से रोकते हैं तथा दायित्वों के प्रति उदासीनता या उपेक्षा पर रोक लगाते हैं। आलोचकों के मतानुसार, न्यायिक नियन्त्रण, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की रक्षा के लिए श्रेष्ठ उपाय है किन्तु कभी–कभी इसका अत्यधिक दबाव प्रशासन को अपाहिज बना देता है।

5. **न्यायिक आज्ञाएँ एवं घोषणाएँ**–न्यायिक नियन्त्रण का अन्य तरीका न्यायालय द्वारा दी जाने वाली आज्ञाएँ (Injuctions) ली घोषणाएँ हैं। जब लोक–सेवक द्वारा कोई कार्य करने या दोहराने की धमकी दी जाती है तो उसे रोकने के लिए न्यायालय आदेश देता है। इसके द्वारा लोक–सेवकों को अधिकारों का दुरूपयोग करने तथा गलतियाँ करने से रोका जाता है। आदेश निषेधात्मक रूप से अवरोधात्मक है और सकारात्मक रूप से परमादेशात्मक है। इसके द्वारा व्यक्तिगत अधिकारों, में होने वाले हस्तक्षेप को रोका जाता है। यह अशिष्टतापूर्ण व्यवहार के सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त रहता है। न्यायालय द्वारा घोषणा उस समय की जाती है जब कोई व्यक्तिगत कानन की व्याख्या द्वारा अपने अधिकारों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की माँग करता है। इस प्रकार की घोषणा व्यक्ति के अधिकारों का एक प्रामाणिक जाती है और भविष्य में आवश्यकता के समय वह इसी के आधार पर कार्यवाही कर सकता है।

न्यायिक नियन्त्रण की सीमाएं

(Limitations of Judicial Control)

नागरिकों की स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की सुरक्षा हेतु निःसन्देह कानून के शासन के अन्तर्गत उपरोक्त वर्णित न्यायिक उपचारों के माध्यम से प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा अपनी शक्तियों व सत्ता के दुरूपयोग पर कठोर नियन्त्रण की व्यवस्था की गई है किन्तु न्यायिक नियन्त्रण की कुछ सीमाएं भी हैं अर्थात् प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए न्यायपालिका को कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है जिनका वर्णन निम्नलिखित हैं–

1. **सीमित न्यायिक नियन्त्रण**–सभी प्रशासनिक निर्णय व कार्य न्यायिक के दायरे में नहीं आते। प्रशासन की अनेक ऐसी कार्यवाहियाँ हैं जिनकी संविधान के अनुसार न्यायपालिका समीक्षा नहीं कर सकती। यह परम्परा बनती जा रही है कि व्यवस्थापिका कानून बनाकर कुछ प्रशासनिक कार्यों को न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर कर देती है। उदाहरणार्थ भारत में निष्क्रान्त सम्पत्ति प्रबन्ध अधिनियम, 1950 (Administration of

Evacucc Property Act] 1950) के अन्तर्गत अन्तिम न्यायिक शक्तियाँ अभिरक्षकों (Custodians) तथा निष्क्रान्त सम्पत्ति के महाअभिरक्ष को सौंपी गई हैं तथा न्यायालय उनके निर्णय में दखल नहीं दे सकता।

2. **न्यायपालिका द्वारा अपनी ओर से हस्तक्षेप न होना**–जो प्रशासनिक कार्यवाहियां न्यायपालिका के क्षेत्राधिकार में है उनमें भी वह अपनी ओर से हस्तक्षेप नहीं कर सकती। न्यायालय तभी किसी मामले में सुनवाई करता है जब कोई प्रभावित व्यक्ति या संस्था न्यायालय के समक्ष यह प्रार्थना करता है कि अमुक प्रशासक के किसी कार्य या निर्णय से उसके अधिकारों को उल्लंघन हुआ है या होने की सम्भावना है। हम जानते हैं कि आम मनुष्य आसानी से अदालतों के मामले में नहीं पड़ता अर्थात् वह मुकद्दमेबाजी (Litigation) से दूर रहना चाहता है और अन्याय को ही स्वीकार कर लेता है।

3. **जटिल व धीमी न्यायिक प्रक्रिया**–न्यायिक प्रक्रिया बड़ी जटिल व धीमी होती है क्योंकि न्यायालयों को एक निर्धारित प्रक्रिया एवं पद्धति के अनुसार कार्यवाही करनी होती है। जो सामान्य नागरिक की समझ में नहीं आता। याचिका करने वाला यह नहीं जानता कि उसे न्याय कब प्राप्त होगा। हम जानते हैं कि न्यायालयों में वर्षों से अनेकों मुकदमें लटके हुए हैं। कई बार न्यायालय से निर्णय अर्थात् न्याय मिलने तक इतनी हानि हो चुकी होती है जिसकी क्षतिपर्ति नहीं की जा सकती। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि न्याय में देरी का अर्थ है न्याय से इन्कारी (Justice deleyed is justice denied)। कई बार तो पीड़ित व्यक्ति न्याय की प्रतीक्षा करते–करते इतना निराश हो जाता है कि वह प्रशासनिक अत्याचार को सहने के लिए विवश हो जाता है।

4. **प्रभावहीन उपचार**–कई बार न्यायपालिका द्वारा प्रदान किये गये उपचार अपर्याप्त व प्रभावहीन होते हैं।

5. **खर्चीली प्रक्रिया**–न्यायिक प्रक्रिया बड़ी खर्चीली है जबकि अधिकांश जनता निर्धन है। अतः सामान्य जनता इससे लाभ नहीं उठा सकती। दावा दायर करने का अर्थ है न्यायालय की फीस (Court fee), वकीलों की फीस, गवाहों को पेश करने का खर्चा आदि जो बहुत कम लोग ही अदा कर सकते हैं। जो इतना भारी खर्चा सहन नहीं कर सकते, उन्हें प्रशासकीय अन्याय को ही सहन करना पड़ता है।

6. **न्यायाधीशों का केवल कानूनी विशेषज्ञ होना**–प्रशासकीय कार्य अत्यन्त तकनीकी प्रकृति के कारण न्यायिक समीक्षा के महत्व को कम कर देते हैं। न्यायाधीश केवल कानुनी विशेषज्ञ होते हैं किन्तु उन्हें प्रशासन को पेचीदा एवं जटिल समस्याओं को सुलझाना पड़ता है जो बड़ा कठिन कार्य है इसीलिए आजकल प्रशासनिक न्यायाधिकरण (Administrative Tribunal) जो अच्छा समझा जाता है जिनमें तकनीकी मामलों के विशेषज्ञों को सदस्य के रूप में शामिल किया जाता

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि प्रशासन पर अनेक प्रकार से नियन्त्रण की व्यवस्था की गई ताकि वह अपनी शक्तियों व प्राधिकार का दुरूपयोग करके नागरिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व मौलिक व अन्य अधिकारों का अतिक्रमण न कर सके। किन्तु आज का युग प्रशासनिक युग है जिसके कारण प्रशासन से प्रायः सामान्य नागरिक असन्तुष्ट हैं। विकासशील देशों में सामान्य जनता अनपढ़ व निर्धन होने के कारण प्रशासन से भयभीत रहती है क्योंकि वहां के प्रशासकों की प्रवृत्ति तानाशाही है। अतः प्रशासन पर नियन्त्रण के सभी साधन अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रशासन पर न्यायपालिका का नियन्त्रण समाप्त कर देना चाहिए। वास्तव में प्रजातन्त्र में राज्य द्वारा अपने नागरिकों को कुछ अधिकार व स्वतन्त्रताएं दी जाती हैं और प्रशासन इन अधिकारों का अतिक्रमण नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा करता है तो न्यायपालिका हस्तक्षेप करके प्रभावित नागरिकों को राहत पहुँचाती है तथा दोषी प्रशासकों की भर्तसना करती है यही कारण है कि न्यायिक नियन्त्रण के भय से आज सरकार विधेयक बनाने नीति निर्मित करने तथा महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने से पूर्व उनके सभी कानूनी पहलुओं पर विचार करती है एवं कानूनविदों से परामर्श करती है ताकि बाद में उसे नीचा न देखना पड़े।

अध्याय - 10

लोक प्रशासन में ई–गवर्नेंस

E-Governance in Public Administration

सन् 1998 में प्रशासनिक सुधार विभाग ने केन्द्र सरकार की एक विशेष फाइल के सफर का रास्ता आंका था। किसी पिछले टेबल पर बंधी मेटलिक स्ट्रिप से सजी पर दरअसल वर्षो के लाल फीते से जकड़ी फाइल को आरम्भ होने से लेकर मंजूरी मिलने तक 48 टेबलों से होकर गुजरना पड़ा।

इसके ठीक विपरीत ई–प्रशासन (E-Governance) का चमत्कार देखिए। सन् 2000 के प्रारम्भ में पंजाब सरकार ने वेबसाइट पर फाइल मनिटरिंग व्यवस्था प्रयोग के तौर पर शुरू की। अगर हम आइकॉन पर क्लिक कर जरूरी सवाल टाइप कर दे ंतो वह हमको फाइल विशेष की स्थिति – वह मुख्यमन्त्री के कार्यालय में पहुंची है या नहीं, किस पदाधिकारी ने उसे देखा है, उसे किस विभाग ने कब भेजा है – के बारे में पूरी जानकारी मुहैया करा देता है।

सूचना प्रौद्योगिकी से संचालित प्रशासन ई–प्रशासन अब कल्पना की बात नहीं रह गई है। देश के कई हिस्सों में शहरी नागरिक अगर बिजली के बिल कम्प्यूटर के जरिए भर रहे हैं तो गांव के लोग भी जमीन के सौदों को मिनटों में पंजीकृत करा लेने की सुविधा उठा रहे हैं।

गवर्नेंस (Governance)

वर्तमान में प्रशासन के लिए गवर्नेंस (Governance) शब्द का प्रचलन है। आज तक शासन संचालन का अधिकार सरकार का एकाधिकार माना जाता रहा है क्योंकि उसके पास सम्प्रभु शक्ति के प्रयोग की क्षमता का प्रचलन एक फैशन बन गया। 'गवर्नेंस' से अभिप्राय है – "Governance is administration-cum-management plus……."

गवर्नेंस का अर्थ है – "Reinventing Government", "Mission-drive-Government". "Market oriented Government", "Service first", "Empowering citizens".

गवर्नेंस शब्द सरकार की भूमिका की पुनर्परिभाषा पर जोर देता है। ("Rederfining the role of government") सरकार की संख्या की सही सीमा ("Right size the Government") के निर्धारण को इंगित करता है, सरकार की पुर्नरचना तथा पुनर्गठन (Restructuring and Redesigning) की आवश्यकता को दर्शाता है।

सुशासन के कार्यक्रम की सूची

वर्तमान में हम केवल शासन के बारे में ही विचार नहीं करते अपितु सुशासन की आवश्यकता सर्वत्र महसूस करते हैं। प्रशासन का अस्तित्व मात्र सुशासन का पर्याय नहीं हो सकता तथापि सभी प्रशासन के लिए सुशासन का लक्ष्य विवादास्पद नहीं है। सुशासन की स्थापना के लिए निम्नांकित बिन्दुओं पर जोर दिया जाता है।

प्रभावी और कुशल प्रशासन; नागरिकों के जीवन स्तर में सुधार; संस्थाओं की वैधता और पैठ बनाए रखना; प्रशासन को जवाबदेय, नागरिक हितैषी और मित्रवत् बनाना; उत्तरदायी प्रशासन की स्थापना; विचार एवं अभिवयक्ति की स्वतन्त्रता का संरक्षण; मितव्यायी ढंग से शासन कार्यो का संचालन; सरकारी विभागों की परिणामोन्मुखी बनाना; जनता को प्रदत्त सेवाओं में गुणात्मक सुधार; कार्मिकों की उत्पादन क्षमता बढ़ाना; भ्रष्टाचार का उन्मुलन; सत्ता के

प्रयोग में स्वेच्छाचारिता को दर किनार करना; नागरिक–प्रशासन रिश्तों को मधुर बनाना; प्रशासनिक प्रक्रियाओं की जटिलता को दूर करने और नौकरशाही को कम करने के लिए सूचना प्रौद्योगिकी आधारित उपकरणों का उपयोग।

ई – प्रशासन (E-Governance)

आजकल सर्वत्र एक नई अवधारणा गुंजायमान हो रही है और वह है ''ई–प्रशासन'' (E-Governance), ''इलेक्ट्रॉनिक प्रशासन'' अथवा ''आई टी एडमिनिस्ट्रेशन''(IT- Administration)। ई–गवर्नेंस वैकल्पिक प्रशासन (E-Governance is the alternative government)है। ई–प्रशासन ऐसा शासन है जो कहीं भी किसी भी समय (E-Governance is government any time, any where)उपलब्ध है। ई–गवर्नेंस सक्षम सरकार, सर्वश्रेष्ठ सरकार और प्रभावी सरकार (E-Governance is really E-nabled government, E-xellent-Government and E-ffective government) है।

ई–प्रशासन और कुछ नहीं, बस अच्छा प्रशासन है, यह ई तो एक औजार मात्र है।

नैस्कॉम के अध्यक्ष स्व. देवांग मेहता के अनुसार ई–प्रशासन से तात्पर्य स्मार्ट गवर्नमेण्ट से है। स्मार्ट अर्थात ऐ से सिम्पल, एम से मॉडल, ऐ से एकाउन्टेबल, आर से रिस्पोन्सिबल तथा टी से ट्रान्सपेरेन्ट। तात्पर्य यह है कि सूचना तकनीकी के प्रयोग से सरकार स्मार्ट हो जाएगी।

''सूचना प्रौद्योगिकी से संचालित प्रशासन ई–प्रशासन है।''

''ई–प्रशासन'' ऑनलाइन प्रशासन है।

''ई–प्रशासन'' की विशेषताएं (Features of E-Governance)

पारम्परिक प्रशासन	ई–प्रशासन
1. भारी–भरकम टुटी–फटी कागजी फाइलों पर आधारित	1. कम्प्यूटर आधारित फाइल
2. पदसोपान आधारित अधिकार सत्ता	2. समतलीय संगठन – पदसोपान के कम–से–कम स्तर
3. सूचनाओं को गोपनीय रखकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन	3. सूचनाओं को बांटकर, सहभागिता को प्रोत्साहित कर सशक्त होना
4. व्यय उन्मुखी	4. उपलब्धि उन्मुखी
5. व्यक्ति उन्मुखी	5. संगठन उन्मुखी
6. निरीक्षण उन्मुखी	6. लक्ष्य उन्मुखी
7. विलम्ब होना स्वाभाविक	7. शीघ्रगामी–त्वरित
8. देरी से जवाब देना	8. तत्काल जवाबदेयता
9. मानव द्वारा आंकड़े तैयार करना	9. इलेक्ट्रानिक डाटा इन्टरचेन्ज
10. सामान्य दोहराव वाले कार्यों को अधिक समय देना ?	10. सृजनात्मक कार्यो के लिए अधिक समय
11. यथास्थितिवादी	11. निरन्तर सुधार पर जोर

राष्ट्रीय ई– गवर्नेंस

राष्ट्रीय ई–गवर्नेंस योजना प्रधानमन्त्री द्वारा वर्ष 2002 में स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर घोषित की गई 15 महत्वपुर्ण शुरूआतों में से एक है। यह शुरूआत सरकार में सभी स्तरों पर ई–गवर्नेंस को बढ़ावा देने के लिए एक व्यापक कार्यक्रम के कार्यान्वयन से सम्बन्धित है ताकि सरकार–नागरिक जनसम्पर्क में कार्यकुशलता, पारदर्शिता

और जवाबदेही को बेहतर बनाया जा सके। यह मद प्रधानमन्त्री द्वारा मॉनीटर की जा रही महत्वपूर्ण मदों में शामिल एक है। इस मद पर प्रशासनिक सुधार और लोक शिकायत विभाग तथा सूचना प्रौद्योगिकी विभाग द्वारा संयुक्त रूप से कार्रवाई की जा रही है। प्रशासनिक सुधार और लोक शिकायत विभाग से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मदों में शामिल एक अन्य मद नैशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ स्मार्ट गवर्नमेन्ट (एन. आई. एस. जी.) ही स्थापना करना है।

राष्ट्रीय ई–गवर्नेंस योजना के तहत निम्नलिखित को समाविष्ट किया गया है :

1 कोर नीतियां 2 कोर अवसंरचना 3 मानव संसाधन विकास/प्रशिक्षण 4 तकनीकी सहायता 5 संगठनात्मक संरचना 6 अनुसन्धान और विकास 7 सहायक अवसंरचना 8 जागरूकता तथा मुल्यांकन 9 कोर ई–परियोजनाएं 10 एकीकृत सेवा योजना

राष्ट्रीय ई–गवर्नेंस योजना के कार्यान्वयन के लिए प्राथमिकता के आधार पर निम्नलिखित उद्देश्यों को इस योजना के तहत चिनहित किया गया :

केन्द्रीय सरकार – आयकर, पासपोर्ट, वीसा, आप्रवास, डी. सी. ए–21, बीमा राष्ट्रय नागरिकता डॉटाबेस, केन्द्रीय उत्पाद –शुल्क, पेन्शन बैंकिंग

राज्य सरकार – भूमि अभिलेख, सड़क परिवहन, सम्पति पंजीकरण, कृषि, खजाने, नगरपालिकाएं, ग्राम पंचायत, वाणिज्य कर, पुलिस

एकीकृत सेवांए – ई डी आई (ई–वाणिज्य), ई–बिज, सामान्य सेवा केन्द्र, इण्डिया पोर्टल, ई. जी. गेटवे सम्बन्धित मन्त्रालयो/विभागों को सुझाव दिया जाता है कि वे उनके वार्षिक योजना प्रक्षेपण में प्रत्येक परियोजना के उद्देश्य के लिए उद्देश्य प्रमुखों की नियुक्ति तथा कार्यान्वयन समिति के गठन के लिए आवश्यक निधि को दर्शाएं।

ई–प्रशासन के लाभ (Advantages of E-Governance)

1. ई–प्रशासन सरकार और लोगों के बीच सहज संवाद का प्रतीक है। इन्टरनेट, ई–मेल आदि के माध्यम से सरकार अपने नागरिकों से सीधा सेवाद स्थापित करने में सक्षम होगी।
2. ई–प्रशासन से पुरानी दुष्क्रियात्मक प्रक्रिया से सरकार को छुटकारा मिलेगा और काम करने के तरीकों मे अनवरत सुधार होगा।
3. दूर–दराज के गांवो को शहरों मे स्थित सरकारी दफतरों से जोड़कर दूरी को अर्थहीन किया जा सकेगा।
4. इससे आम लोगों का पैसा और समय बचेगा।
5. प्रशासन पारदर्शी होगा, लोगों के सूचना के अधिकार को अमली जामा पहनाना आसान हो जाएगा।
6. प्रशासन में शीघ्र निर्णय लिए जा सकेंगे, चुस्त और सही आंकडे एवं सूचनाएं सदैव उपलब्ध रहेंगी।
7. ई–प्रशासन से नौकरशाही का बोझ कम होगा, कर्मचारियों एवं लागत में कटौती सम्भव होगी।
8. कम्प्यूटरों के माध्यम से समन्वय आसान एवं उत्त्म हो सकेगा।
9. भ्रष्टाचार में कमी आएगी और सरकारी राजस्व वसूली पर्याप्त ढंग से हो सकेगी।

ई – प्रशासन : चुनौतियां (E-Governance : Challenges)

आलोचकों का कहना है कि सॉफ्टवेयर निर्यात तथा विदेशों में भारतीय सॉफ्टवेयर पेशेवरों के सफल होने से भारत की गौरवशाली छवि बन जाना एक बात है, लेकिन देश में ई–प्रशासन को कायदे से 'आन–लाइन' चलाना बहुत सालों तक सपना ही बना रहने वाला है।

सूचना प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों का कहना हैं कि जिस तेजी से सूचना प्रौद्योगिकी का विस्तार हो रहा है और जिस तेजी से उसका व्यापारिक कामकाज में इस्तेमाल बढ़ रहा है, उसे देखते हुए ई–प्रशासन के मामले में गति बहुत धीमी है। जहां कहीं इसे अपनाया भी गया है, वहां उसका स्वरूप अभी प्रदर्शनात्मक (डेमोन्स्ट्रटिव) ही है।

ई–प्रशासन के लिए राजनेताओं का समर्थन एवं इच्छा शक्ति और तत्पर नौकरशाही चाहिए। नौकरशाही के रवैये मे परिवर्तन लाना सबसे कठिन काम है। महज कम्पयूटर खरी लेना और नेटवर्किंग कायम कर लेना ई–प्रशासन को कोई पहचान नहीं। अनेक सरकारी कार्यालय ऐसे हैं जहां ये सुविधाएं काफी समय से हैं लेकिन वहां काम फिर भी कागज पर ही होता है। कम्प्यूटर की व्यवस्था तभी अच्छी है जब उसमें आंकड़े भरने के काम में लगे लोग चुस्त और प्रशिक्षित हो। अतः ई–प्रशासन के लिए सरकारी कर्मियों को उच्च स्तर का व्यवसायिक प्रशिक्षण दिया जाना उपरिहार्य है। वैसे 2003 तक सरकारी नियुक्तियों के लिए सूचना प्रौद्योगिकी का प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया गया है।

दूरसंचार संसाधनों के तेजी से विकास के साथ–साथ देश में इन्टरनेंट के तेजी से आगे बढ़ने की सम्भावना है लेकिन इसके साथ ही इस अत्याधुनिक प्रौद्योगिकी के दुरूपयोग के कारण सायबर अपराधों के बढ़ने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। साइबरस्पेस ने साइबर अपराध, सुरक्षा निजता और वैयक्तिक नागरिक की हिफाजत को दाव पर लगा दिया है।

भारत जैसे देश में इन्टरनेट के उपयोग करने वालों का एक बहुत मामूली वर्ग खरीद–फरोख्त और भुगतान ऑन लाइन करने में विश्वास करता है और यदि इन्टरनेट पर धोखाधड़ी और जालसाजी की घटनाएं बढ़ती हैं तो इस प्रौद्योगिकी के उपयोग की सम्भावनाएं बढ़ने के बजाए कम होने लगेंगी।

ई–कॉमर्स और ई–प्रशासन को बढ़ावा देने के लिए पुलिस ओर जांच एजेन्सियों को प्रशिक्षित करके इस योग्य बनाया जाए कि वे सायबर क्राइम की जांच कर सकें। पुलिस में कम्प्यूटर प्रौद्योगिकी में दक्ष विशेषज्ञ अधिकारियों और कर्मचारियों को प्रशिक्षित करके इन अपराधियों से निपट पाने के योग्य बनाना होगा।

महत्वपूर्ण प्रश्नः

1. ई– प्रशासन से क्या अभिप्राय है? इसके लाभ कौन–कौन से है?
2. ई– प्रशासन तथा पारंपरिक प्रशासन में अंतर बताओ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

भर्ती एवं प्रशिक्षण

1. 'भर्ती' शब्द को समानार्थक माना जाता है–

   (अ) नियुक्ति का (ब) सेवा में प्रकाश का

   (स) नियुक्ति के तरीकों का (द) इनमें से कोई नहीं

2. 'भर्ती का अर्थ है कि विशेष पदों के लिए उपयुक्त प्रकार के व्यक्तियों को प्राप्त करना।' यह परिभाषा है–

   (अ) मार्शल डिमॉक की (ब) फ्रेडरिक टेलर की

   (स) ब्लंशली की (द) वुडरो विल्सन की

3. 'भर्ती की प्रक्रिया में हम विरोधी तत्त्वों में खींचातानी पाते हैं।' यह कथन है–

   (अ) हाइट का (ब) टैरी का

   (स) मूनी का (द) डिमॉक का

4. भर्ती–प्रणाली का सबसे पहले प्रचलन हुआ–

   (अ) संयुक्त राज्य अमेरिका में (ब) ग्रेट ब्रिटेन का

   (स) फ्रान्स में (द) प्रशिया में

5. भारत में भर्ती के क्षेत्र में 'योग्यता के सिद्धान्त' का प्रचलन प्रारम्भ हुआ–

   (अ) 1836 ई. में (ब) 1853 ई. में

   (स) 1862 ई. में (द) 1892 ई. में

6. 'भर्ती के अतिरिक्त लोक प्रशासन का अन्य कोई भाग महत्त्वपूर्ण नही है।' यह कथन है–

   (अ) ऑग का (ब) जिंक का

   (स) मुनरो का (द) ब्रोगन का

7. भर्ती की मुख्यतः धारणाएँ हैं–

   (अ) नकारात्मक (ब) सकारात्मक

   (स) उपर्युक्त दोनों (द) विश्लेषणात्मक

8. भर्ती की नकारात्मक धारणा का उद्देश्य है–

   (अ) सरकारी पदों से धूर्त व्यक्तियों को दूर रखना

   (ब) पक्षपात की स्थिति को समाप्त करना

   (स) दलगत राजनीति के कुप्रभावों से मुक्ति (द) उर्प्युक्त सभी

9. भर्ती की प्रमुख समस्याएँ हैं–

   (अ) भर्तीकत्ता की नियुक्ति (ब) भर्ती की प्रणालियाँ

   (स) निष्पक्ष भर्ती (द) ये सभी

10. पदाधिकारियों के लिए वांछनीय योग्यताओं को रखा जा सकता है–

(अ) नागरिकता (ब) अधिवास

(स) आयु–सीमा (द) उर्प्युक्त सभी

11. लूट–प्रथा का प्रचलन है–

(अ) भारत में (ब) संयुक्त राज्य अमेरिका में

(स) फ्रान्स में (द) ब्रिटेन में

12. प्रत्याशियों की योग्यता तथा उपयुक्तता की जाँच क लिए जिन तरीको को अपनाया है–

(अ) लिखित परीक्षा (ब) मौखिक परीक्षा

(स) मेडिकल जाँच (द) ये सभी

13. प्रशिक्षण और शिक्षण अलग–अलग है, क्योंकि–

(अ) संकुचितता की दृष्टि से (ब) व्यापकता की दृष्टि से

(स) दोनों ही दृष्टियों से (द) दोनों ही दृष्टियों से नहीं

14. प्रशिक्षण की प्रक्रिया है–

(अ) सीमित समय की (ब) दीर्घकाल की

(स) शाश्वत् (द) इनमें से कोई नहीं

उत्तर

(1) अ (2) अ (3) अ (4) द (5) ब (6) ब

(7) स (8) द (9) द (10) द (11) ब (12) द

(13) अ (14) स

पदोन्नति

1. पदोन्नति के अवसरों को प्रभावित करने वाले तत्त्व होते हैं–

(अ) संगठन की प्रगति (ब) संगठन का हास

(स) सेवा का पिरामिड स्वरूप (द) उपर्युक्त सभी

2. जिस विद्वान ने 'पदोन्नती व्यवस्था को समस्त सेवीवर्ग प्रशासन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य माना है।' उसका नाम है–

(अ) विलोबी (ब) वुडरो विल्सन

(स) ब्लशली (द) फ्रेडरिक टेलर

3. प्रो. विलोबी ने पदोन्नती के लिए पात्रता कौन सा आधार निश्चित किसा हैं–

(अ) सेवीवर्ग की योग्यताएँ (ब) सेवा का स्तर

(स) उपर्युक्त दोनों ही (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. सेवीवर्ग की योग्यता से आशय है–
   (अ) ज्ञान (ब) कुशलता
   (स) अनुभव (द) उपर्युक्त सभी
5. पदोन्नती की मुख्य समस्याएँ हैं–
   (अ) पदोन्नति के सिद्धान्त (ब) वरिष्ठता
   (स) वरिष्ठता बनाम योग्यता (द) चयन की उपयुक्तता
6. पदोन्नती के लिए योग्यता का अंकन करने सम्बन्धी मुख्य विधियाँ हैं–
   (अ) परीक्षा या साक्षात्मक (ब) विभागाध्यक्ष का निर्णय
   (स) सेवा–अभिलेखन (द) उपर्युक्त सभी
7. पदोन्नती के लिए सिद्धान्तों के निधारण का मुख्य उद्देश्य है–
   (अ) मनमानी को रोकना (ब) उचित व्यवस्था करना
   (स) कार्य–कुशलता बढ़ाना (द) सुचारू व्यवस्था करना
8. वरिष्ठता के सिद्धान्त का मुख्य गुण है–
   (अ) वस्तुनिष्ठता (ब) व्यक्तिनिष्ठता
   (स) क्रमबद्धता (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
9. योग्यता के सिद्धान्त के पक्ष में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात जाती है –
   (अ) योग्यतम व्यक्तियों का चयन (ब) अनुभवी व्यक्ति का चयन
   (स) वरिष्ठ व्यक्ति का चयन (द) कुशल व्यक्ति का चयन
10. योग्यता के अनुपालन की विधियाँ हैं –
   (अ) परीक्षा (ब) साक्षात्कार
   (स) सेवा–अभिलेखन (द) उपर्युक्त सभी
11. परीक्षा–पद्धति के मुख्य प्रकार हैं–
   (अ) खुली प्रतियोगिता परीक्षा (ब) सीमित प्रतियोगितापरीक्षा
   (स) उत्तीर्णता परीक्षा (द) ये सभी
12. सीमित प्रतियोगिता परीक्षा को नाम दिया जाता है–
   (अ) खुली पद्धति (ब) बन्द पद्धति
   (स) संकुचित पद्धति (द) इनमें से कोई नहीं
13. पदोन्नति के विभागध्यक्ष के व्यक्तिगत निर्णय पद्धति का मुख्य दोष है–
   (अ) पापलू (ब) अनुभवी व्यक्ति का चयन
   (स) वरिष्ठ व्यक्ति का चयन (द) कुशल व्यक्ति का चयन
14. सेवा–अभिलेख को पुकारा जाता है–
   (अ) कार्यकुशलता का माप (ब) गोपनीय प्रतिवेदन
   (स) चरित्र विवरण (द) उपर्युक्त सभी

उत्तर

1. द	2. अ	3. स	4. द	5. स	6. द
7. अ	8. अ	9. अ	10. द	11. द	12. स
13. अ	14. द				

संघ लोक सेवा आयोग : संगठन, शक्तियाँ एवं कार्य

1. भारत में लोक सेवा आयोग की स्थापना कब की गई ?

(अ) 1930 (ब) 1940

(स) 1926 (द) 1950 में

2 अखिल भारतीय सेवाओं की रचना भारतीय की किस धारा से की जाती है?

(अ) 319 (ब) 320

(स) 312 (द) 318

3. अखिल भारतीय सेवाओं की कितनी संख्या है ?

(अ) 10 (ब) 5

(स) 3 (द) 7

4. निम्न में से कौन सी अखिल भारतीय सेवा है ?

(अ) I.A.S (ब) I.P.S

(स) I.F.S (द) उपर्युक्त तीनों

5 संघ लोक सेवा आयोग के सदस्यों का कार्यकाल कितने वर्ष का है ?

(अ) 60 वर्ष की आयु होने पर या 6 वर्ष का कार्यकाल पूरा होने पर

(ब) 62 वर्ष की आयु होने पर या 6 वर्ष का कार्यकाल पूरा होने पर

(स) 65 वर्ष की आयु होने पर या 6 वर्ष का कार्यकाल पूरा होने पर

(द) 70 वर्ष की आयु होने पर या 6 वर्ष का कार्यकाल पूरा होने पर

6 राज्य लोक सेवा आयोग में सदस्यों की आयु समय सीमा कितनी है ?

(अ) 60 वर्ष या 10 वर्ष (ब) 62 वर्ष या 6 वर्ष

(स) 65 वर्ष या 7 वर्ष (द) 68 वर्ष या 6 वर्ष

7 संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों को कौन नियुक्त करता है ?

(अ) प्रधानमंत्री (ब) राष्ट्रपति

(स) सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीष (द) सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीष

8 राज्य लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्यों को नियुक्त करता है ?

(अ) मुख्यमंत्री (ब) राज्यपाल

(स) गृहमन्त्री (द) वित्तमन्त्री

9 संघ/राज्य लोक आयोग के कम से कम आधे सदस्यों का कितना प्रषासनिक अनुभव आवश्यक है ?

(अ) 7 वर्ष (ब) 9 वर्ष

(स) 10 वर्ष (द) 15 वर्ष

10 संघ/राज्य लोक सेवा आयोग व सदस्यों को उनके पदों से हटाया जा सकता है यदि वे–

(अ) दिवालिया घोषित किए गए हो

(ब) सर्वोच्च न्यायालय द्वारा

(स) वेतन के अतिरिक्त अन्य साधन से पारिश्रमिक लेने पर

(द) उपर्युक्त सभी

11 संघ/राज्य लोक सेवा आयोग की सिफारिष को मानना न मानना निर्भर है–

(अ) राष्ट्रपति पर (ब) सरकार पर

(स) प्रधानमंत्री पर (द) आयोग के अध्यक्ष पर

12 हरियाणा राज्य लोक सेवा स्थित है–

(अ) दिल्ली (ब) करनाल

(स) चण्ड़ीगढ़ (द) हिसार

उत्तर

(1) स	(2) स	(3) अ	(4) द	(5) स	(6) ब
(7) ब	(8) ब	(9) स	(10) द	(11) ब	(12) स

ह्विटले परिषद्

1. सरकार और कर्मचारियों के मध्य झगड़े निपटाने के लिए उत्तरदायी संस्था का कहते हैं –

(अ) प्रषासन समीति (ब) झगड़ा समिति

(स) ह्विटले परिषद् (द) कार्य समिति

2 निम्न में से किस देष के कर्मचारियों को हड़ताल करने का अधिकार दिया गया है–

(अ) भारत (ब) चीन

(स) फ्रांस (द) अमेरिका

3 ह्विटले परिषद की उत्पत्ति किस देष में हुई ?

(अ) फ्रांस (ब) भारत

(स) अमेरिका (द) इंग्लैंड

4 ह्विटले परिषद की तर्ज पर किस राज्य में ह्विटले गठित की गई है ?

(अ) पंजाब (ब) उत्तर प्रदेश

(स) हरियाणा (द) राजस्थान

5 भारत में ह्विटले परिषदों का गठन कितने स्तरों पर किया गया है ?

(अ) 1 (ब) 2

(स) 3 (द) 4

6 भारत में ह्विटले परिषद गठित की गई –

(अ) 1920 (ब) 1931

(स) 1947 (द) 1960 ई. में

उत्तर

(1) स (2) द (3) द (4) स (5) स (6) ब

बजट के सिद्धान्त एवं बजट निर्माण प्रकिया

1. वित्तीय प्रशासन के अभिकरण हैं –

(अ) संसद (ब) वित्त मन्त्रालय

(स) नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (द) उपर्युक्त सभी

2 बजट शब्द की उत्पत्ति किस भाषा से हुई ?

(अ) ग्राक (ब) फ्रेंच

(स) रोमन (द) अंग्रेजी

3 बजट शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया –

(अ) 1680 ई. में (ब) 1700 ई. में

(स) 1733 ई. में (द) 1800 ई. में

4 बजट शब्द की उत्पत्ति किस देष में हुई –

(अ) भारत (ब) इंग्लैण्ड

(स) जर्मनी (द) अमेरिका

5 'सभी उद्यम वित्त पर निर्भर हैं, इसलिए कोषागार के प्रति सबसे अधिक देना चाहिए' यह किसने कहा है –

(अ) अरस्तु (ब) कौटिल्य

(स) मनु (द) प्लेटो

6 सन्तुलित बजट का सिद्धान्त किस विद्वान ने पेष किया –

(अ) टैरी (ब) डीमॉक

(स) पी. के. वाटल (द) रैन स्टोरम

7 बोजीटी (Bougette) शब्द किस भाषा से लिया गया है ?

(अ) लैटिन (ब) अंग्रेजी

(स) फ्रांसिसी (द) ग्राक

8 भारत का वित्तीय वर्ष आरम्भ होता है –

(अ) 1 जनवरी से (ब) 1 अगस्त से

(स) 1 अप्रैल से (द) 1 सितम्बर से

9 बजट को संसद के सामने कौन पेष करता है –

(अ) प्रधानमंत्री (ब) राष्ट्रपति

(स) वित्तमन्त्री (द) राज्यपाल

10 भारत में बजट लोकसभा में प्रायः कब प्रस्तुत किया गया है ?

(अ) जनवरी मास के अन्तिम दिन (ब) अप्रैल मास के अन्तिम दिन

(स) मार्च मास के अन्तिम दिन (द) फरवरी मास के अन्तिम दिन

11 राज्य सभा वित्त विधेयक कितने दिन अधिक से अधिक रोक सकती है ?

(अ) 10 दिन (ब) 12 दिन

(स) 14 दिन (द) 30 दिन

12 भारत में बजट को पारित करने की जिम्मेवारी किसकी है ?

(अ) लोकसभा (ब) राज्यसभा

(स) संसद (द) राष्ट्रपति

उत्तर

(1) द (2) ब (3) स (4) ब (5) ब (6) स

(7) स (8) स (9) स (10) स।

लेखा–परीक्षण व्यवस्था

1. नियन्त्रण एवम् महालेखा परीक्षक की नियुक्ति कौन करता है ?

(अ) प्रधानमंत्री (ब) वित्तमन्त्री

(स) राष्ट्रपति (द) कृषि मन्त्री

2 नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के वेतन, पेन्शन व सेवा शर्ते भारित होते हैं–

(अ) संचित निधि पर (ब) आकस्मिक निधि पर

(स) सार्वजनिक लेखा पर (द) सरकारी कोष

3 भारत की संचित निधि में से व्यय किए गए धन का परीक्षण कौन करता है ?

(अ) सार्वजनिक लेखा समिति (ब) अनुमान समिति

(स) लोक लेखा समिति (द) नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक

4 नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक की नियुक्ति की जाती है –

(अ) 6 वर्ष के लिए (ब) 5 वर्ष के लिए

(स) 65 वर्ष के लिए (द) 2 वर्ष के लिए

5 सार्वजनिक वित्त का सजग प्रहरी व रखवाला है –

(अ) वित्तमन्त्रालय (ब) वित्त मन्त्री

(स) उद्योग मन्त्री (द) नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक

6 संसद वित्त पर नियन्यण करती है –

(अ) बजट पास करके

(ब) लोक लेखा समिति की रिपोर्ट पर बहस करके

(स) लोक उद्यमों पर समिति की रिपोर्ट पर बहस करके

(द) उपर्युक्त सभी माध्यमों से

7 अनुमान समिति में सदस्य हैं –

(अ) 20 (ब) 25

(स) 30 (द) 35

8 लोक उद्यमों पर समिति में सदस्य होते हैं –

(अ) 10 (ब) 15

(स) 20 (द) 25

9 लोकसेवा समिति के सदस्यों की संख्या है –

(अ) 15 (ब) 22

(स) 29 (द) 36

10 वित्त के मामले में सबसे अधिक शक्तिषाली समिति है –

(अ) अनुमान समिति (ब) लोक लेखा समिति

(स) लोक उद्यमों पर समिति (द) तीनों समान हैं

11 संविधान की कौन सी धारा संसद को यह अधिकार देती है कि उसकी स्वीकृति के बिना कोईकर नहीं लगाया जाएगा ?

(अ) 260 (ब) 265

(स) 270 (द) 275

12 लोक लेखा समिति का अध्यक्ष होता है –

(अ) वित्त मन्त्री (ब) लोक सेवा

(स) स्पीकर (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

उत्तर

(1) स (2) अ (3) ह (4) अ (5) द (6) द (7) स

(8) ब (9) ब (10) ब (11) ब (12) ब

प्रदत्त विधिनिर्माण–अर्थ एवं महत्व

1. सत्ता वितरण एवं विभाजन का सर्वाधिक लोकप्रिय तरीका है–

(अ) प्रत्यायोजन (ब) शक्ति पृथक्करण

(स) न्यायिक पुनरावलोकन (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2 'प्रत्यायोजन का आशय है उच्चतर सत्ता द्वारा विषिष्ट सत्ता को सौंपा जाना।' यह कथन है–

(अ) मूने का (ब) ब्लंशली का

(स) पोलक का (द) मुनरो का

3 'सत्ता के प्रत्यायोजन का अर्थ दूसरों को कर्त्तव्य सौंप देने से कुछ अधिक है।' यह मत है–

(अ) मिलटे का (ब) फ्रेडरिक

(स) मरसन का (द) बकल का

4 'साधारण रूप में सत्ता के हस्तान्तरण का अभिप्राय है किसी को कुछ करने की आज्ञा देना।' यह अभिमत है–

(अ) टेलर का (ब) साइमन का

(स) प्रो. न्यूमैन का (द) टेरी का

5 'संगठन में सत्ता का प्रत्यायोजन नीचे से ऊपर , ऊपर से नीचे तथा बराबर वालों के बीच हो सकता है।' यह परिभाषा है–

(अ) टेरी की (ब) माहेष्वरी की

(स) डॉ. एम. पी. षर्मा की (द) डॉ. अवस्थी की

6 प्रत्यायोजन की प्रकिया के तीन मुख्य पहलू का उल्लेख करने वाला विद्वान है–

(अ) प्रो. न्यूमैन (ब) वुडरो विल्सन

(स) ब्लंशली (द) टेरी

7 प्रत्यायोजन का मुख्य रूप हैं–

(अ) सरल प्रत्यायोजन (ब) विषिष्ट प्रत्यायोजन

(स) पूर्ण प्रत्यायोजन (द) उपर्युक्त सभी

8 जिस विद्वान ने 'पार्ष्व के प्रत्यायोजन' का उल्लेख किया है, उसका नाम है–

(अ) टैरी (ब) मिलेट

(स) हडसन (द) साइमन

9 प्रत्यायोजन की सीमाएँ हैं–

(अ) वैधानिक सीमा (ब) अधीनस्थों की योग्यता

(स) संगठन की प्रकिया (द) उपर्युक्त सभी

10 एक अच्छे प्रत्यायोजन अधिकारी के गुण होते हैं–

(अ) उदारता (ब) स्पष्टतावादी

(स) पूर्व कल्पनाओं में कुषल (द) उपर्युक्त सभी

11 प्रदत्त व्यवस्थापन को पुकारा जाता है–

(अ) संविधि आदेष (ब) संसदीय आदेष

(स) मुख्य कार्यपालिका के आदेष (द) विभागीय आदेष

12 प्रदत्त व्यवस्थापन का दूसरा नाम है–

(अ) अधीनस्थ व्यवस्थापन (ब) सामान्य व्यवस्थापन

(स) विषिष्ट व्यवस्थापन (द) इनमें से कोई नहीं

13 प्रदत्त व्यवस्थापन में संसद सौंपती है–

(अ) कानून निर्माण की सत्ता (ब) अविष्वास लाने की सत्ता

(स) निन्दा प्रस्ताव की सत्ता (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

14 प्रदत्त व्यवस्थापन की उपयोगिता है–

(अ) सामन्य काल में (ब) असाधारण काल में

(स) आपात् काल में (द) उपर्युक्त सभी में

15 प्रदत्त व्यवस्थापन पर नियन्त्रण है–

(अ) कानूनी सीमा का (ब) संसद का

(स) न्यायालय का (द) उपर्युक्त सभी की

16 प्रदत्त व्यवस्थापन के लिए उत्तरदायी कारण रहे हैं–

(अ) संसद के पास समयाभाव (ब) संसद का कार्यभार

(स) व्यवस्थापन की जटिलता (द) उपर्युक्त सभी

17 प्रदत्त व्यवस्थापन की मुख्य आलोचनाओं के आधार हैं–

(अ) संसदीय सर्वोच्चता पर आघात (ब) अराजक तत्वों को प्रोत्साहन

(स) नई निरंकुषता को जन्म (द) उपर्युक्त सभी

18 'प्रदत्त व्यवस्थापन के विरोध का कोई महत्त्व नहीं है।' यह कथन है–

(अ) ऑग का (ब) जिंक का

(स) डायसी का (द) बाल्डविन का

उत्तर

(1) अ	(2) अ	(3) अ	(4) स	(5) अ	(6) अ
(7) द	(8) अ	(9) द	(10) द	(11) अ	(12) अ
(13) अ	(14) द	(15) द	(16) द	(17) द	(18) अ